

हिंदी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

मूल लेखक
आचार्य श्यामसुंदरदास

संस्करणकार
नंददुलारे बाजपेयी, एम० ए०

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, मयाग
१९४६

Printed and published by K. Mitra, at
The Indian Press, Limited, Alameda

निवेदन

जब से आचार्य रामचन्द्रदास का "हिंदी भाषा और साहित्य" ग्रंथ प्रकाशित हुआ, तभी से उसके एक संक्षिप्त संस्करण की आवश्यकता समझी जाने लगी थी, पर तब से अब तक उस संबंध का कोई क्रियात्मक उद्योग नहीं हो सका था। हाल में जब हिंदी 'विरचकोट' के संपादक श्रीमंत नगेंद्रनाथ बसु महोदय ने अपने कोट का 'हिंदी-साहित्य' शब्द एक स्वतंत्र निबंध के रूप में मुझे लिखने की आज्ञा दी, तब मैं अन्य कामों में व्यस्त रहने के कारण उनका आदेशपालन न कर सका। परंतु मेरे प्रस्ताव करने पर बसु महोदय ने उस 'हिंदी भाषा और साहित्य' ग्रंथ के साहित्य-खंड का, संक्षिप्त आकार में, अपने कोट में रचान देना स्वीकार किया। मेरी चारणा है कि आचार्य रामचन्द्रदास का उस ग्रंथ ही 'विरचकोट' में संकलन योग्य था। यह पुस्तिका उसी निबंध का किंचित् परिवर्धित और सशोधित रूप है।

अब तक डाक्टर ग्रियर्सन से लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल तक के हिंदी-साहित्य के जो विवेचनात्मक इतिहास ग्रंथ लिखे गए हैं उनमें हिंदी का संक्षिप्त विषय उठना ही देख पड़ता जितना विषय भिन्न काल के भिन्न भिन्न कवियों पर उनकी राय-रानी देग पड़ती है। आचार्य रामचन्द्रदास का उस ग्रंथ इस दिशा में सर्वप्रथम प्रवेश करने की चेष्टा रचता है। यह चेष्टा हिंदी के लिये मौलिक ही नहीं, इतनी महत्वपूर्ण भी है कि इसका परिचय साहित्य के प्रहारात अन्येषको को ही नहीं

साधारण विचारियों का भी मिलना चाहिए। यही इस संक्षिप्त संस्करण की सार्थकता है।

मैं स्वीकार करता हूँ कि इस छंड़लन-कार्य में मैं अनम्यस्त हूँ और इस ओर मेरी रुचि भी नहीं, तथापि कई कारणों से ठीक मूल ग्रंथ से मेरी अस्थिरता प्रतीति रही है और मैं ही उसे संक्षिप्त करने का अधिकारी भी था। इसलिए बुद्धिबों को बिना न कर, मैं पुस्तक के साथ इस रूप में अपना नाम संयुक्त करने में प्रसन्न हो रहा हूँ।

प्रकाश }
५-१२-११ }

नरदुलारे धामपेयी

—

विभाग-सूची

विषय	पृष्ठ
(१) आमुक्त	१—२
(२) बीरगाथा-काल	३—११
(३) भक्ति-काल—ज्ञानाभारी शाला	१२—१८
(४) , मेममार्गी शाला	२०—२७
(५) , राम-मछ शाला	२८—३३
(६) , कुम्ह-मछ शाला	३३—३८
(७) रीति काल	३८—४४
(८) आधुनिक काल—पद्य प्रवाह	४५—५७
(९) , मछ-प्रवाह	५८—८३
(१०) उपसंहार	८४

हिंदी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

(१) आमुख

उत्तर भारत के विस्तृत और विचाल मूलक में निम्न हजार वर्षों से प्रचलित हिंदी भाषा का साहित्य भारत की जातीय और राष्ट्रीय आशाओं, आकांक्षाओं और स्थितियों को जानने का अद्वितीय साधन है। अपनी विचालता, विस्तार और व्यापकता के कारण ही नहीं, भारत की सम्यता और संस्कृति-परंपरा की रक्षा करने के कारण भी हिंदी साहित्य की महिमा और महत्त्व अपार है। मानव-दृष्टि के 'सत्यं त्वं मुदरं' की अभिव्यक्ति के लिये और भारत के जातीय जीवन की अभिव्यक्ति के लिये हिंदी-साहित्य के प्रयास स्तुत्य और अहर्निह हैं। भारत की प्राचीन आय-सम्यता और आय-संस्कृति, हिंदी-साहित्य ने नवीन बहामुपगु धारण कर, नवीन रंग रूप में विकसित हुई और पूरी कही है। अपने परिवर्तनशील और प्रगतिशील जीवन का प्रतिबिंब देकर आज भी संपूर्ण उत्तराध्याय का विचाल जनसमूह हिंदी-साहित्य का श्रेय स्वीकार करता है।

भारतीय साहित्य की मूल रागिणी समूह-मुदरी है, इस सम्य को सर्वत्र बाद रचना आदि। हिंदी-साहित्य भी इसी परंपरा का पालन करता है। देश-काल की स्थिति के अनुरूप जनता की विचलित का प्रतिबिंब हिंदी में आधिकारिक से ही मिलता है। समूह की यही जग जग बरसी है, साहित्य में भी परिवर्तन हुआ है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य का प्रारंभ से अब तक बार कालों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) बीरयात्रा-काल	सं० १०५० से १४०० तक ।
(२) मछि-काल	सं० १४०० से १७ तक ।
(३) रीति-काल	सं० १७०० से १८५५ तक ।
(४) गद्य-काल	सं० १८५० से अब तक ।

निश्चय ही ये विभिन्न व्यवस्थाएँ अथवा गणित की विधियों की सख्त निषेध अकारण नहीं हैं, किन्तु भी हिंदी-साहित्य के सामान्य विवेचन में ये सामान्यतः स्वीकार की जा सकती हैं ।

(२) धीरगाथा-काण्ड

यह युग जोर राजनीतिक हस्तक्षेप तथा अराजकता का था। भारत के विषय आदि परिजमीय प्रदेशों पर अरबों के आक्रमण का बहुत पहले से प्रारंभ हो चुके थे और एक विस्तृत भू-भाग पर उनका आधिपत्य भी बहुत कुछ स्थायी रीति से प्रतिष्ठित हो चुका था, परंतु पीछे समस्त उत्तराफ़्ग विदेशियों से पादाघात होम तथा और मुसलमानों की विजय बैजमन्वी लाहौर, देहली, मुल्तान तथा अजमेर आदि में चराने लगी। महमूद गजनवी के आक्रमणों का यही युग था और शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने भी इसी काल में भारत-विजय के लिये प्रयत्न किए थे। पहले तो इस देश पर विदेशियों के आक्रमण, स्थायी अधिकार प्राप्त करके शासन करने के उद्देश्य से नहीं, केवल यहाँ की अमूल्य संपत्ति छूट ले जाने की इच्छा से हुआ करते थे। महमूद गजनवी ने इसी आशय से सप्तह पार बढ़ाई की थी और वह देश के विभिन्न स्थानों से विपुल संपत्ति ले गया था। परंतु कुछ समय के उपरांत आक्रमणकारियों के शत्रु में परिवर्तन हुआ, वे कुछ तो धर्मप्रचार की इच्छा से और कुछ यहाँ की तुरत समृद्धिवासी अवस्था तथा विपुल वन-धान्य से आकृष्ट होकर इस देश पर अधिकार जमाने की जुन में लगे। यहाँ के राज-पूतों ने उनका साथ छोड़ा दिया और वे उनके प्रयत्नों को निष्फल करके उन्हें बहुत समय तक पराजित करते रहे, जिससे उनके पैर पहले तो जम नहीं सके पर धीरे-धीरे राज्य-शक्ति अंतकाल से धीरे-धीरे गढ़ और अंत में उस मुस्लिम-शक्ति के प्रपन्न भग्न का आग सिर झुकाना पड़ा।

राजनीतिक हस्तक्षेप के इस भीषण युग में देश की सामाजिक स्थिति बिलंबी शायनीय हो गई थी, इस पर कम सोच पाने देते हैं। जब से

गुप्त-साम्राज्य का अंत हुआ था और देश अनेक छोटे छोटे टुकड़ों में बँट गया था, तब से ईसवीयन के अठ्ठावीं शताब्दी-काल के इतिहास कई शताब्दियों तक सारे देश को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न हुआ ही नहीं। उद्यम यह-कलाह की निरंतर हडि हली गई और विद्वान की नहीं, इसवी तथा म्यादवी शताब्दियों में यह भांगरा होय अपनी परम सीमा तक पहुँच गया। स्वयंवरों में आपने अपने शौर्य का प्रदर्शन करना एक साधारण पाठ थी, कमी कमी तो अपना बल दिखाने वा मन बहसाने के लिये ही अकारण लड़ाई सेह हो जाती थी। विप्लवा और भुखों आदि का यह अनंत क्रम समाज के लिये बहुत ही हानिकर सिद्ध हुआ। जो जीवन किसी समय ज्ञान-विज्ञान का मूल भूत था निरिध कलाका का आविर्भावक था, वह अविद्यावकार में पड़कर अनेक अपवित्रताओं का फँस बन गया। जो लोग आसमुद्र द्वितीयों के साम्राज्य में शुभ-समुक्तिपूषक समय बिताते थे, वे अपनी रक्षा तक कर सकने में असमर्थ हो गए। सोमनाथ पर मुसलमानों के आक्रमण का प्रतिकार न कर मंदिर में छिपे रहना और अनंगपाल के हाथी के संयमस्वर पीछे बूझ पड़ने पर सारी सेना का भाग लड़ा होना हिंदुओं के उत्क्रांतीन परम पवन का सूचक है। वरुण ग्रन्थ स्वानों में प्रबल बीछा प्रदर्शित करने के अनेक ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं, परंतु फिर भी जो समाज अपना मत्ता-भुय तक परवानमे में अत मर्य हो जाता है और जो अपने बिसाली तथा अदूरदर्शी शासकों के ही हाथों का पुतला बन जाता है उतका कल्याण कब तक हो सकता है ! बल यह हुआ कि साधारण जनता तो उत्क्रांतीन रूपनियों को आत्मार्पण करता गई और अपरिणामदर्शी रूपनियों ने पर में ही बैठ तथा फूट के बीच सोए, जिनका कटु जल देश तथा जाति को अब तक मोनना पड़ रहा है।

देश के जिस मू-भाग में त्रिष समय ऐसी अराति तथा अर्थकार का साम्राज्य छाया हुआ था, उसी मू-भाग में अगमग उही समय

अपनी भाषाओं से उत्पन्न होकर हिंदी-साहित्य अपना दौरा-काल बरती कर रहा था। हिंदी की इस दौरा-वस्था में देश की स्थिति थी, उसी के अनुरूप उसका साहित्य भी विकसित हुआ। भीषण हस्त-तथा घोर अराजिक के उस युग में बीरगाथाओं की ही रचना संभव थी, साहित्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति उस काल में हो ही नहीं सकती थी। यह तो साधारण बात है कि जिस समय कोई देश सङ्घर्षों में व्यस्त रहता है और जिस काल में युद्ध की ही ध्वनि प्रधान रूप में व्याप्त रहता है, उस काल में बीरोत्साहिनी कविताओं की ही पैदाइश भर में हुनाई पड़ती है। उस समय एक ही अन्य प्रकार की रचनाएँ हस्ती ही नहीं और जो थोड़ी बहुत हस्ती भी हैं वे, सुरक्षित न रह सकने के कारण शीघ्र ही काल-कषणित हो जाती हैं। हिंदी के आदि युग में जो केवल बीररस की कविताएँ मिलती हैं, उसका ही कारण है।

यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि सत्कालीन कविता की रचना राजाओं के आश्रय में ही हुई, अतः उसमें राजाभित कविता की प्रायः सभी विशेषताएँ मिलती हैं। यद्यपि उस काल के राजाओं की नीति देश के लिये हितकर नहीं थी और उनके पारस्परिक विरोध तथा संघर्ष से जो अग्नि प्रवर्धित हुई, उससे देश की स्वतंत्रता को भ्रम करके ही दम लिया, तथापि राजाभित कविता की बाखी अपने स्वामियों के कौति-कथन में कभी कुंठित नहीं हुई। उनका यह काय बराबर होता रहा। तारांश यह है कि उस समय के कवि प्रायः राजाओं को प्रसन्न रखने और उनके कृत्यों का अंश-समर्पन करने में ही अपने जीवन की सार्यकता समझ बैठे थे। देश की स्थिति और भविष्य का भार उनका ध्यान ही न था। जिस समय कवियों की ऐसी हीन अपरवा हो जाती है और जिस समय कविता में उच्च आदर्शों का समावेश नहीं होता, उस समय देश और जाति की ऐसी दुर्गता अवश्यमापी हो जाती है। हिंदी के आदि-युग में

अभिकांश ऐसे ही कवि हुए जिन्हें समाज को संघटित तथा सुव्यवस्थित कर उसे विदेशीय आक्रमणों से रक्षा करने में समर्थ बनाने की ठानी थी। नही थी बितनी अपने आभयदाताओं की प्रशंसा द्वारा स्वार्थ साधन करने की थी। वही कारण है कि जयचंद जैसे नृपतियों की काव्यनिरुपेक्षाशील रचनाएँ कवि तो हुए, पर सच्चे कवियों की परिचय गाथाएँ उस काल में लिखी ही नहीं गई और यदि लिखी भी गई हों तो अब उनका पता नहीं है।

इन राजाश्रित कवियों की रचनाओं में न तो इतिहास-सम्मत पदनामों का ही अधिक उल्लेख मिलता है और न उच्च कोटि के कवित्व का ही उल्लेख पाया जाता है। एक तो उस युग की रचनाएँ अब अपने मूल रूप में मिलती ही नहीं और जो कुछ मिलती भी है, उनमें ऐतिहासिक तथ्यों से बहुत कुछ विमिश्रता पाई जाती है। जो कवि अपने अभिप्रायों का प्रसंग करने के लिये ही रचनाएँ करेगा उसे बहुत कुछ इतिहास की अवहेलना करनी पड़ेगी, साथ ही उसकी कविता में दृश्य के उच्चे मापों का आभाव होने के कारण उच्च कोटि के कवित्व का स्वरूप न हो सकेगा। यहाँ कवयि प्रशंसा करना ही उद्देश्य रह जाता है, यहाँ इतिहास की ओर से दृष्टि हटा लेनी पड़ती है और नवनवन्मय शासिनी प्रतिमा का एक संकीर्ण क्षेत्र में आश्रय करता पड़ता है। इसी संकीर्ण क्षेत्र में बहती बहती काव्य धारा परंपरागत हो गई जिससे माद शारंगों की प्रीति का ता पलती रही, पर कविता के उच्च लक्ष्य का विस्मरण हो गया। पुगनी रचनाओं में प्रायः बहुत परिचित न करके और उसे नवीन रूप में भुनाकर राज-सम्मान पान की या कुप्रथा शारंगों में चली उनसे कविता का लक्ष्य भ्रष्ट हो ही गए, साथ ही अनेक ऐतिहासिक विवरणों का साथ भी हो गया। ग्रंथों में संयुक्त रहने अनेक बड़े चले कि वे मूल से भी अनेक हो गए और मूल का पता लगाना भी असंभव नहीं तो कठिन अवसर हो गया। यदि इन कुप्रथा का घंटा हिंदी के मध्य कवियों की कृपा से न हो गया होता और कविता का

संस्कृत शब्दाभ्युदय से हटकर जन-मन की हार्दिक वृत्ति से न हो जाता तो अब तक हिंदी कविता की कितनी प्रचण्डता हो गई होती। इतना सद्य में अनुमान किया जा सकता है। इस युग के कवियों की रचनाओं में यहाँ-तहाँ सच्चे राष्ट्रीय भावों की भी झलक देल पड़ती है। देशानुराग से प्रेरित होकर देश के शत्रुओं का सामना करने के लिये वे अपने आभ्युदायाओं का केवल अपनी बाखी प्रायः प्रोत्साहित ही नहीं करते ब, बल्कि समय पड़ने पर स्वयं हाथ में तलवार लेकर मैदान में दूद पड़ते थे और इस प्रकार तलवार तथा कलम दोनों का चलाने की अपनी कुशलता का परिचय देते थे। कभी कभी वे कवि देश के अंतर्निहित में सहायक होकर बाखी का वुरूपणा भी करते थे, पर यह उस काल की एक ऐसी व्यापक विशेषता थी कि कविगाथा उससे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकती थी।

उस युग के कवियों में उष कोटि के कवित्व की झलक भी मिलती है। यद्यपि जीवन के अनेक क्षणों को व्यापक तथा गंभीर व्याख्या तत्कालीन कविता में नहीं पाई जाती पर उन्होंने अपनी वृत्तियों में बीरों के चरित्र चित्रण में नई नई रमणीय उद्गाथनाएँ तथा अनेक कोमल सृष्टियों का लमावेश किया है। इस काल के कवियों का मुद्र बदन इतना मर्मस्पर्शी तथा सजीव हुआ है कि उनके सामने पीछे के कवियों की अनुप्रास-गमित किन्तु निर्जीव रचनाएँ नकल ही जान पड़ती हैं।

हिंदी में बीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—कुछ तो प्रबंध-काव्यों के रूप में और कुछ बीरगीतों के रूप में। प्रबंध के रूप में बीर-कविता करने की प्रचाली प्रायः सभी साहित्यों में बिरकाल से चली आ रही है।

पृथ्वीरानरासो—पृथ्वीराजरासो समस्त बीरगाथा-युग की संपूर्ण अधिक महत्वपूर्ण रचना है। उस काल की कितनी सदा झलक इस एक ग्रंथ में मिलती है। उतनी वृत्तरे अनेक रूपों में नहीं मिलती। संतो का कितना विचार तथा भाषा का कितना साहित्यिक सौंदर्य इसमें

मिलता है, अम्बुज उसका अक्षय्य भी नहीं दिलाई देता। पूरी जीवन यात्रा होने के कारण इसमें बीरगीतों की-सी संकीर्णता तथा वर्णना की एककम्पना नहीं आने पाई है, बल्कि महीनता-समन्वित कथानका की ही इसमें अभिव्यक्ति है। यद्यपि 'रामचरित-मानस' अथवा 'पद्मावत' की भाँति इसमें मावों की गहनता तथा अमिनक कल्पनाओं की प्रचुरता उसनी अधिक नहीं है, परंतु इस ग्रंथ में भी मावों की बड़ी सुंदर अभिव्यक्ति हुई है और कहीं कहीं कोमल कल्पनाओं तथा मनोहारिणी छवियों से इसमें अपूर्ण काव्य-रसस्कार आ गया है। रसात्मकता के विचार से उसकी मधुना हिंदी के बोझ से उरद्वंद काव्य-ग्रंथों में हो सकती है। माया की प्राचीनता के कारण यह ग्रंथ अब साधारण जनता के लिये बुरा हो गया है, अन्यथा राष्ट्रोत्थान के इस युग में पूष्पीराज रावो की उपलब्धिता बहुत अधिक हो सकती थी।

बीरगाथा-काल के प्रबंध-काव्यों के रचयिताओं में यह प्रकार का जिसने जयचंद-प्रकाश, मधुकर का जिसने कबचंद्रक जसचंद्रिका तारगधर का जिसने हर्मीर-काव्य और नरसिंह का जिसने विजयपाल रावो लिखा है, उल्लेख मिलता है, जिससे यह प्रकट होता है कि इन प्रकार के काव्यों की परंपरा बहुत दिनों तक चली थी। पर राजपूताना में इस प्रकार की प्राचीन पुस्तकों की राज न होने तथा अनेक ग्रंथों के उनके मालिकों के मरने, अविशेष अथवा अनुरक्षितता के कारण कंधिरी काठरिया में बंद पड़े रहने के कारण इस परंपरा का पूरा पूरा इतिहास उपलब्ध करने की सामग्री का सर्वथा अभाव हो रहा है।

आल्हदखंड—कुछ विद्वानों ने इसे चंड बरबाई-इस पूष्पी राजरावो ग्रंथ का ही एक खंड यत्नाया है और इस दृष्टि में इसे स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में ग्रहण नहीं किया है, परंतु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। पूष्पीराजरावो तथा आल्हदखंड में सबसे प्रधान यह कह है कि पहला ग्रंथ दिल्ली के अच्युतपुत्र पूष्पीराज के दरबारी कवि का निम्ना हान के कारण उसके वृत्तों का बहुत अधिक उत्कर्ष प्रदान

करता है परंतु आल्फ़रैड में यह बात नहीं पाई जाती। इस भीरगीता में न तो पूर्णराज के चरित्र की प्रधानता है और न उसकी भीर वृत्ति को प्रधानता। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह ग्रंथ प्राचीन रूप में जयनिक का भिक्षा हुआ था जो महादे के बंदेल शासक परमास के दरबार में रहता था। वह बंदेल-शासक पूर्णराज का समकालीन और कन्नौज के अधिपति जयचंद का मित्र तथा सामंत था।

इस पुस्तक में प्रधानतः आल्हा और ऊरल (उदयसिंह) नामक और क्षत्रियों तथा साधारणतः उनके अनेक भाइयों और कुटुम्बियों की भीरगाथाएँ हैं। आल्हा और ऊरल बनाकर आल्हा के क्षत्रियों के वंशज ने और महादे के तत्कालीन बंदेल अधिपति परमास के सामंतों तथा सनापतियों में से। यद्यपि परमास अराजक तथा भीरु शासक था परंतु उसकी स्त्री मल्हना अपने भीरु सामंतों की सहायता से कई बार पूर्णराज तक के आक्रमणों का विफल करने में समर्थ हुई थी। आल्हा, ऊरल, सासन, मुजने आदि भीरु भ्राताओं की भाँति तत्कालीन छोटे छोटे राज्यों पर तो भी ही, कन्नौज के विरहृत राजाजय का अधिपति जयचंद को उनकी भीरुता के आगे निर मुकाम था। आल्फ़रैड के भीरगीता में इन्हीं भीरु भ्राताओं के अनेक विषाहों तथा माय-शयन लड़ाइयों का वर्णन है। उस समय की कुछ ऐसी रीति हो गई थी कि प्रत्येक विषाह में भीरु क्षत्रियों के लिये अपनी भीरुता का प्रदर्शन करना आवश्यक होता था और कन्यापक्षपाता को पराजित करने पर ही उन्हें कन्या से विषाह करम का अधिकार मिलता था। यद्यपि इस पुस्तक में युवा का भिन्न विद्यालय रूप प्रदर्शित किया गया है, उनमें बहुत कुछ अनिश्चितता भी है, परंतु यह निश्चित है कि महादे के इन भीरु सहायों में सत्यतापूर्वक अनेक युद्ध किए थे और उनमें विजयी होकर उन्होंने राजकन्या का अपहरण भी किया था। पुस्तक के अंत में आर्यत करण दृश्य उपस्थित

होता है। उस वीर वनाश्रय मुख में मारे जाते हैं, उनकी रानियाँ लती हमें के लिये अग्नि की शरण होती हैं और बचे हुए बचल वो व्यक्ति आत्मा धार उसका पुत्र ईदक यह-परित्याग कर डिछी कर। वन में था बसते हैं। इस कजरी वन का ठेक ठाक पठा अमी सरु मही लग लका है। यह कोई कवि-कल्पित रथान आन पड़ता है जिससे निबनता तथा अंधकार की अंधरा होती है।

इस गीरगीत में अनेक मुखों का वर्णन बहुत कुछ एक ही प्रकार से हुआ है, साथ ही इसमें अनेक मौगलिक आनुमिदों में पाई जाती हैं परंतु ताभारत पाठकों के लिये इसके वर्णना में बड़ा आकर्षण है। वरपि इसमें साहित्यिक गुणों की बहुत कुछ म्यूनता पाई जाती है, पर उत्तर भारत के प्राकः लमी प्रवेष्टों में इसका प्रचार है। इसमें बसित मुखों की मयानकता वरपि बहुत कुछ बड़ा-बड़ाकर अंकित की गई है, परंतु मुख अक्षर्य हुए थे और उनमें वीर वनाश्रयों को अनेक बार बिजय भी हुई थी। वरपि अगलिक-कृत आह-वर्ष आर अपने पूर्व रूप में नहीं मिलता और उसके आधुनिक संस्करणों में मया की नवी-ता तथा पटनाओं का प्रक्षेप प्रत्यक्ष देन पड़ता है, फिर भी यह एक हितपूर्व रचना है।

अमीर खुसरौ—जित प्रकार बंद बरबारी आदि वीरगाथाकारों की रचना में तत्कालीन हिंदू मनोवृत्ति का परिचय मिलता है और बुद्धों के राजदरबारी की अवस्था का अभिमान होता है उन्ही प्रकार अमीर खुसरौ की रचनाओं में हम मुसलमानों के उन मनोभावों की लक पाते हैं जो उनके हृदय में आकर बस आभ के उपरोक्त यहाँ जो परिस्थिति से प्रभावित होकर तथा यहाँ की आचर्यव्यवस्थाओं का प्रभाव रखकर उत्पन्न हुए थे। इस विचार से वरपि हम गुलाम की वृत्तियों में ताभारत जनता की चित्तवृत्तियों की छान मही पाते, परंतु तत्कालीन स्थिति से परिचित होने के लिये हमें उनकी उत्प्रेरणा अक्षर्य स्वीकृत करनी पड़ेगी। माया के विघात की दृष्टि से गुलामों

की मसनवियों तथा पहेलियों का और भी अधिक महत्त्व है। कुचरों द्वारा प्रयुक्त लड़ी बोली के कुछ भारतीय स्वरूप में अरब और पारस के शब्दों की भरमार करके आबकल के कृत्रिम ठरू बनाने वाले जब आधुनिक हिंदी को ठरू से उत्पन्न बतलाने लगते हैं, तब उनके अमनिवारणार्थ कुचरों की रचनाओं का आ सहारा लेना पड़ता है वह तो है ही, भारतीय भाषा शास्त्र के एक अंग की पूर्ति के लिये उपकरण बनकर सहायता देने में भी उनकी कृत्रियों ने कम काम नहीं किया है।

परंतु कुचरों की कविता का वास्तविक उत्पत्ति समझने के लिये हमको उत्कासीन कलाओं पर भी ध्यान देना होगा। उनकी कुछ रचनाएँ पारसी में और कुछ हिंदी में पाई जाती हैं और कुछ रचनाओं में मिश्रित भाषा का प्रयोग दिखाई देता है। जब हम उस समय की शास्त्र-कला और संगीत-कला पर ध्यान देते हैं तब उनमें हिंदू और मुसलमान आदर्शों का मेल पाते हैं। ऐसा जान पड़ता है, कि उस समय हिंदू-मुसलमानों में परस्पर बहुत कुछ आदान-प्रदान प्रारंभ हो गया था। यद्यपि साहित्य में हिंदी के बीरगाथा-काल तक अपनी पूर्व परंपरा का परित्याग नहीं पाया जाता, परंतु यहाँ की भाषा में बहुत कुछ विदेशीय शब्द आन लगे थे। अमोर कुचरो ने अपना “लासिकशरीर” काम तैयार करके भाषा के आदान-प्रदान में बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई थी। ठीक कुछ काल उपर्यंत साहित्य में भाषा का आदान-प्रदान भी आरंभ हुआ। इस प्रकार हम कुचरों की कविता में युगप्रवचन का बहुत कुछ पूर्वानुमान पाते हैं।

हस्ता है। तब भीर बनाकर युद्ध में मारे जाते हैं, उनकी सनियाँ छती होने के लिये अग्नि की शरणा लेती हैं और बचे हुए बचत हो व्यक्ति आसुरा आर उमका पुत्र ईदरा गृह-परित्याग कर किसी कजरी वन में जा बसते हैं। इस कजरी वन का ठाक ठाक पठा घमी तक नहीं लग सका है। यह कार्य कनि-वस्त्रिष्ठ स्थान जान पड़ता है जिससे निजन्ता तथा अंधकार की ध्वंजना होती है।

इस बीरगीत में अनेक मुद्रों का वर्णन बहुत कुछ एक ही प्रकार से हुआ है। साथ ही इसमें अनेक मौगलिक अनुश्रुतियाँ भी पाई जाती हैं परंतु साधारण पाठकों के लिये इसके वर्णनों में बड़ा आकर्षण है। यद्यपि इसमें साहित्यिक गुणों की बहुत कुछ म्यूनता पाई जाती है पर उत्तर भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में इसका प्रचार है। इसमें वर्णित मुद्रों की मयानकता यद्यपि बहुत कुछ बढ़ा-बढ़ाकर अंकित की गई है, परंतु युद्ध अवश्य हुए थे और उनमें भीर बनाओं को अनेक बार विजय मो हुई थी। यद्यपि जगनिक-वृत्त आसुर-वृद्ध अथ अपने पूर्व रूप में नहीं मिलता और उसके आधुनिक संस्करणों में भाषा की नवीनता तथा चट्टानों का प्रक्षेप प्रत्यक्ष देख पड़ता है फिर भी यह एक गह्वरपूर्ण रचना है।

अमीर खुसरो—जिस प्रकार चंद बरबाई आदि बीरगाथाकारों ने रचना में तत्कालीन हिंदू मनोवृत्ति का परिचय मिलता है और युद्धों के राजदरबारों की अवस्था का अभिज्ञान होता है उसी प्रकार अमीर खुसरो की रचनाओं में हम मुसलमानों के उन मनोभावों की झलक पाते हैं जो उनके इस देश में आकर बस जाने के उपरंत वहाँ की परिस्थिति से प्रभावित होकर तथा वहाँ की आवश्यकताओं का ध्यान रखकर उत्पन्न हुए थे। इस विचार से यद्यपि हम खुसरो की कृतियों में साधारण जनता की चिंतवृत्तियों की छाप नहीं पाते, परंतु तत्कालीन स्थिति से परिचित होने के लिये हमें उनकी उपयोगिता अवश्य स्वीकृत करनी पड़ेगी। भाषा के विकास की दृष्टि से खुसरो

की मदनवियों तथा परेतियों का और भी अधिक महत्व है। सुन्दरी द्वारा प्रयुक्त लड़ी लोगों के कुछ भारतीय स्वरूप में अरब और पारस के शब्दों की मरमार करके आनन्द के हृदय में उठाने वाला अब आधुनिक हिन्दी का उद्गम से उत्पन्न बतलाने लगते हैं, जब उनके अनभिचारार्थ सुन्दरी की रचनाओं का जो सहारा लेना पड़ता है वह तो है ही, भारतीय भाषा-शास्त्र के एक अंग की पूर्ति के लिये उपकरण बनकर सहायता देने में भी उनकी कृतियों ने कम काम नहीं किया है।

परन्तु सुन्दरी की कविता का पास्तुरिक रहस्य समझने के लिये हमको सत्कालीन कलाकाँक्ष पर भी ध्यान देना होगा। उनकी कुछ रचनाएँ अरबी में और कुछ हिन्दी में पाई जाती हैं और कुछ रचनाओं में मिश्रित भाषा का प्रयोग दिखाई देता है। अब हम उस समय की वास्तु-कला और संगीत-कला पर ध्यान देते हैं जब उनमें हिंदू और मुसलमान आदमियों का मेल पाते हैं। ऐसा जान पड़ता है, कि उस समय हिंदू-मुसलमानों में परस्पर बहुत कुछ आदान-प्रदान आरंभ हो गया था। पश्चिमी साहित्य में हिन्दी के बीरगाथा-काल तक अपनी पूर्ण परंपरा का परिष्कार नहीं पाया जाता, परन्तु वहीं की भाषा में बहुत कुछ विशेषोप शब्द आने लगते हैं। अर्थात् सुन्दरी ने अपना "साहित्यकार" काल तैयार करके भाषा के आदान-प्रदान में बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई थी। उसके कुछ काल उपरोक्त साहित्य में भाषों का आदान-प्रदान भी आरंभ हुआ। इस प्रकार हम सुन्दरी की कविता में युग-प्रसूत का बहुत कुछ प्रमाण पाते हैं।

(३) भक्ति-काव्य—ज्ञानाश्रयी शाखा

प्रसिद्ध बीरशिरोमणि हम्मीरदेव के पतन के बाद हिंदी-साहित्य में जीरगाथाओं की रचना शिथिल पड़ गई थी। कबीर आदि संत कवियों के जन्म के समय हिंदू आदि की बड़ी दशा हो रही थी। वह समय और परिस्थिति अनिमीरवारवाद के लिये बहुत ही उपयुक्त थी। यदि उसकी सहायता पड़ती तो उसका रचना कदाचित् कठिन हो जाता, परंतु कबीर आदि ने बड़े ही कौशल से इस अवसर से लाभ उठाकर जनता को भक्तिमार्ग की ओर प्रवृत्त किया और भक्तिभाव का प्रचार किया। प्रत्येक प्रकार की भक्ति के लिये जनता इस समय तैयार नहीं थी। मूर्तियों की शक्तता वि० सं० १८२ में बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो चुकी थी, जब कि महमूद गजनवी ने आत्मिरक्षा से निरत हाथ पर हाथ रखे हुए, भद्राहुओं के देखते देखते सामनाय का मंदिर नष्ट करके उनमें से हजारों का सकार क बाढ़ उठारा था और हृद में अपार धन प्राप्त किया था। गर्जेद्र की एक ही डेर छुनकर चौड़ जाने वाले और प्राह स उसकी रक्षा करनेवाले सगुण मंगवान् जनता के घर से घर संकट-काष्ठ में भी उसकी रक्षा के लिये आते हुए न दिखाई दिए। अतएव उनकी आत्मा जनता को सहसा प्रवृत्त कर सकना असंभव था। पंडरपुर के मलशिरोमणि नामदेव की सगुण भक्ति जनता को आकृष्ट न कर सकी। लोगों ने उसका वैसा अनुसरण न किया वैसा आगे चलकर कबीर आदि संत कवियों का किया और अंत में उन्हें भी ज्ञानाश्रित निर्गुण भक्ति की ओर मुकना पड़ा। उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी, यद्यपि निर्गुण की शक्ति का मली भाँति अनुभव नहीं किया जा सकता था, उसका आभासमात्र मिल सकता था। पर प्रकृत व्यवहार में रहते हुए मनुष्य के लिये वह कृत्रिम मनुष्य या

पटान किस काम की जो उसकी रक्षा के लिये तत्परता न दिख जाये ! उसकी ओर बहकर आता हुआ सिनका भी जीवन की आशा पुनर्प्राप्त कर देता है और उसी का सहारा पाये के लिये वह अनायास हाथ बढ़ा देता है । संत कवियों ने अपनी निर्गुण मक्ति के द्वारा भारतीय जनता के हृदय में यही आशा उत्पन्न करके उसे कुछ अधिक समय तक विपत्ति की इस आघात बल-शक्ति के ऊपर बने रहने की उचेजना दी । यद्यपि सहायता की आशा के आगे बढ़े हुए हाथ को वास्तविक सहाय सगुण मक्ति से ही मिला और केवल राममक्ति ही उसे किनारे पर लगाकर सर्वथा निरापद कर सकी ; पर इससे जनता पर होमेवाले कबीर, दादू, रैदास आदि संतों के उपकार का महत्व कम नहीं हो जाता । कबीर यदि जनता को मक्ति की ओर न प्रवृत्त करते तो क्या यह संभव था कि लोग इस प्रकार अस्त्रिं मूर्ख करके घर, दुहाई का महत्व कर लेते ! कारण यह कि संत कवियों का आभिर्भाव ऐसे समय में हुआ जब मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता को अपने पीड़ित रहने की आशा तक नहीं रह गई थी और न उसमें अपने आपका जीवित रक्षण की इच्छा ही शेष थी । उसे मृत्यु या धर्म परिवर्तन के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं देखा पड़ता था । यद्यपि धर्मशास्त्र तत्त्वज्ञों न सगुण उपासना से आगे बढ़ते-बढ़ते निर्गुण उपासना तक पहुँचने का सुगम मार्ग बतलाया है और वास्तव में यह तत्त्व बुद्धि-संगत भी जान पड़ता है, पर उस समय जनता को सगुण उपासना की निष्कारता का परिचय मिला चुका था और उस पर से उत्तका विस्थापन भी ठठ चुका था । अतएव कबीर को अपनी व्यवस्था उत्तर्नी पड़ी । मुसलमान भी निर्गुणापास्तक थे । अतएव उनसे मिलते मिलते धर्म पर लगाकर कबीर आदि ने हिंदू जनता को संतोष और शक्ति प्रदान करने का उपाय किया । यद्यपि इस उपाय में उन्हें पूरी पूरी सफलता नहीं हुई, तथापि यह स्पष्ट है कि कबीर के निर्गुणवाद ने तुलसी और हर के सगुणवाद के लिये याग प्रस्तुत कर दिया और

उत्तरीय भारत के माफी चर्ममय जीवन के सिने उसे बहुत कुछ संतुष्ट और परिष्कृत कर दिया।

वित्त समय निर्गुण संत कवियों का आदिर्भाव हुआ था, वह समय ही मक्ति की लहर का था। उस लहर को बढ़ाने के प्रयत्न कारण प्रस्तुत थे। भारतीय इस्लाम और मुसलमानी एक्स्पेरिमेंट के मेरे की ओर ध्यान नहीं दिया गया और होना के विविध मिश्रण के रूप में निर्गुण भक्तिमार्ग खल पड़ा। रामानंद के बारह शिष्यों में से कुछ इस मार्ग के प्रवर्तन में प्रवृत्त हुए जिनमें से कबीर प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त सेना, पद्मा, मयानंद पीता और रैदास थे, परंतु उनका उठना प्रभाव न पड़ा जितना कबीर का।

मुसलमानों के आगमन से हिंदू-समाज पर एक और प्रभाव पड़ा। पर-वर्तित शूद्रों की दृष्टि का उत्थेप हो गया। उन्होंने देखा कि मुसलमानों में हिंदू और शूद्रों का भेद नहीं है। तदर्थ ही होने के कारण वे सब एक हैं, उनके व्यवसाय में उनमें कोई भेद नहीं है, न उनमें कोई छेद है और न कोई बढ़ा। अतएव इन दृष्टान्तों से शूद्रों में से कुछ ऐसे महात्मा निकले जिन्होंने मनुष्यों की एकता उद्घोषित करने का विचार किया। इस नवोत्थित भक्ति-धर्म में सम्मिश्रित होने के कारण हिंदू-समाज में प्रवर्तित भेद-भाव के विरुद्ध आंदोलन होने लगा। रामानंदजी ने सबके सिने भक्ति का मार्ग खोल दिया। नाम देव हरजी, रैदास चमार, बाबू हुनिषा, कबीर कुलाहा आदि समाज की नीची ब्रेडी के ही थे, पर उनका नाम आज तक आदर से सिना जाता है।

इस साहित्यिक दृष्टि से देखने पर भी हम संत कवियों का एक विशेष स्थान पाते हैं। वह ठीक है कि विहारी और केसव आदि कौसी माया की प्राबलता का अभिमान वे कवि नहीं कर सकते और न सर, दलही की सरलता और व्यापकता ही इनकी कविता में पाई जाती है। बायसी ने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हृदय की वैठी

एककृपा दिवाई है, अनेक निगुण संत कवि उतनी सफ़लता से वह नहीं दिया तक। यह सब होते हुए भी इन कवियों का स्थान हिंदी-साहित्य में अतिसंत उत्कर्षस्थपूर्य तथा उच्च समग्र सामग्री। भाषा की प्राक्कता कम होते हुए भी उसमें प्रभावोत्पादकता बहुत है और उनकी सीधता से भावों में व्यापकता की बहुत कुछ कमी हो जाती है। उनके संदेशों में जो महत्ता है, उनके उपदेशों में जो उदारता है, उनकी कविताओं में जो प्रभावोत्पादकता है, वह निश्चय ही उच्च कोटि की है। कविता के लिये उन्होंने कविता नहीं की है।

अब हम कुछ प्रसिद्ध प्रसिद्ध संत कवियों की वैयक्तिक विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख करते हैं—

कबीर—अब तक अनुसंधानों के अनुसार महात्मा कबीरदास का जन्म-मृत्यु १४५६ और मृत्यु-संवत् १५७५ माना जाता है। यद्यपि निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, फिर भी सब बातों पर विचार करने से इस मत के ठीक होने की अधिक संभावना है कि वे ब्राह्मणी या किसी हिंदू स्त्री के गर्भ से उत्पन्न और मुसलमान परिवार में जन्मित हुए। कदाचित् उनका शास्त्रज्ञान मगहर में सीखा था और वे पीछे से काशी में आकर बसे थे जहाँ से अंतकाल के कुछ पहले उन्हें पुनः मगहर जाना पड़ा हो। प्रसिद्ध स्वामी रामानंद को उन्होंने अपना गुरु स्वीकार किया था। कुछ लोगों का यह भी मत है कि उनके गुरु शेष शर्मा नामक कोई छोटी मुसलमान पंडित थे। बर्मदास और मुरत मोयदास नाम के उनके दो चेले हुए। कबीर की मृत्यु के पीछे पंद्रह साल में कबीर पंथ की एक अलग शाखा पैलाई और मुरतगोपाल काशीवासी शाखा की गद्दी के अधिकारी हुए। कबीर के साथ प्रायः साई का नाम भी लिया जाता है। संभवतः साई उनका पत्नी और कमाल उनका पुत्र था।

कबीर बहुत से। उनका सत्संग से जन्म, उपनिषदों और पीर

नामक स्थान में हुई थी और यही स्थान आज तक बानूपंथियों का मुख्य केंद्र बना हुआ है।

दादू का प्रचार-क्षेत्र अधिकतर राजपूताना तथा उसके आस-पास का प्रांत था, अतः उनके उपदेशों की भाषा में राजस्थानी का पुट पाया जाता है। संत कवियों की भाँति दादू ने भी साक्षिर्मा तथा परमादि कहे हैं जिनमें स्वर्ग की मर्मा, ईश्वर की व्यापकता, जाति-भाँति की अन्वेषणा आदि के उपदेश दिए गए हैं। इनकी भाषा में कबीर की भाषा से सरलता तथा तत्त्व अधिक है, यद्यपि वे कबीर के समान प्रतिभाशाली नहीं थे। कबीर तर्कप्रिय थे, अतः उन्हें तार्किक की-सी कठारता भी धारण करनी पड़ी थी; परंतु दादू ने इत्येव की सन्धी बहुत मूर्तियों का ही अभिप्रेषण किया है। इनकी मृत्यु संवत् १६११ में हुई थी। आरम्भ-काल के संत कवियों में वे पड़े-लिखे ज्ञान पढ़ते हैं।

मलूकदास—वे श्रीरंगेश के समकालीन सिंगुण मठ कवि थे। “अजगर करै न पाकरी पंखी करै न काम” नामा प्रसिद्ध दोहा इन्हीं की रचना है। इनकी भाषा साधारण संत कवियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध और संस्कृत हाँसी थी और इनको बुरों का भी ज्ञान था। रत्नदान तथा ज्ञानबोध नाम की इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं जिनमें वैराग्य तथा प्रेम आदि की मनोहर भाषा व्यवहृत की गई है। एक सौ आठ वर्ष की अवस्था में संवत् १७३६ में इनकी मृत्यु हुई थी। वे कदा बिना हलाहा बाद के निवासी थे।

सुंदरदास—इन संत कवियों में सबसे अधिक विद्वान् तथा पंडित कवि सुंदरदास हुए। सुंदरदास बानूपंथ की शिष्य-परंपरा में थे। इनका अध्ययन विशेष विस्तृत था। इनका काशी में आकर शिक्षा प्राप्त की थी। सुंदरदास की भाषा शुद्ध काव्य-भाषा है और उनकी भाषा में उनके उपनिषदी आदि से परिचित होने का पता चलता है, परंतु कबीर आदि की भाँति उनमें स्वभावसिद्ध मौलिकता

तथा प्रतिमा अधिक नहीं थी, इससे उनका प्रभाव भी विरोध नहीं पड़ा। तुलसीदास के अतिरिक्त संता में असुर अनन्य, धर्मदास, जगदीश्वर आदि का नाम भी लिया जाता है, साथ ही तुलसी साहब, गोविंद साहब, भीष्मा साहब, पलटू साहब आदि अनक संत हुए जिनमें से अधिकांश का साहित्य का कोई विरोध प्रभाव नहीं पड़ा। परंतु संतों की परंपरा का अंत नहीं हो गया और न्यूनाधिक रूप में वह बराबर चलती रही और अब तक चली जा रही है।

यद्यपि साहित्यिक समीक्षा में निर्गुण संत कवियों को उच्चतम स्थान नहीं दिया जाता, पर इससे हम उनका किये हुए उपकार नहीं भूल सकते। मुसलमान और हिन्दू संस्कृतियों के उक्त संपर्क-काव्य में कुछ शक्तिमयी वाणी की आवश्यकता थी, उसी की अभिव्यक्ति संतों ने की। अब भी हिंदी के प्रधान कवियों में कबीर आदि का उच्च स्थान है और प्रचार को दृष्टि से वो महात्मा तुलसीदास के बाद इन्हीं का नाम लिया जावेगा। इसमें संदेह नहीं कि इस युग में इन संत महात्माओं के कारण हिंदी-साहित्य का बड़ा उपकार हुआ।



(४) भक्ति-मन्त्रालय—प्रेममार्गी शाखा

कबीर आदि संता की कानी अटपटी है। उसमें ब्रह्म की निराकार उपासना का उपदेश दिया गया है और वेदों तथा पुराणों की निंदा करके एक प्रकार के वंश-रहित सरल सत्ताधारपूर्ण धर्म की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है। राम और रहीम को एक ठहराकर हिंदू तथा मुसलमान मतों का अद्भुत मेल मिलाया गया है। इसी प्रकार हिंसा और मांस-मद्य का त्याग कर तथा नमाज और पूजा का विरोध करके इन संतों ने किस मार्ग का अनुसरण किया किन्तु नहीं यह साधारण जनता की समझ में नहीं आ सकता था। फिर भी कबीर आदि का देश के साधारण जन-समुदाय पर जो महान् प्रभाव पड़ा, वह हमने-सुनने की बात नहीं है। वे संत पढ़े-लिखे न थे, उनकी माया में तात्त्विकता न थी उनके द्वारा उठपड़ाये थे तथापि उन्हें जनता में स्वीकार किया और उनकी विशेष प्रसिद्धि हुई। इसके विपरीत सभी कवियों के उद्गार अधिकतर श्रुत्यन्त और शास्त्रानुमोदित थे। उनकी माया भी अल्पों में ही हुई थी और वह अदि का भी उन्हें दान था। इन कवियों की संख्या भी कम न थी। फिर भी वह स्वीकार करना पड़ता है कि देश में सभी कवियों की न तो अधिक प्रसिद्धि ही हुई और न उनका अधिक प्रचार ही हुआ। इनमें से अनेक कवि तो नामावश्य ही थे और कठिनाई से उनके ग्रंथों का पता लगा है। संभवतः तात्त्विक समाज में भी इन कवियों का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान कभी नहीं माना गया। इनकी कविताओं के उपाहारक न तो लक्ष्य-अर्थों में मिलते हैं और न धार्मिक संग्रहों में ही उन्हें स्थान दिया गया है। संभवतः कवियों की रहस्योन्मुख भावनाएँ इस देश की जन-बासु के उत्पत्ति में अनुकूल नहीं थी जिसने कबीर आदि की अटपटी और अभ्यवस्थित भाषा भी।

प्रेमास्पानक सूखी कवियों की परंपरा हिंदी में कुतबन के समय से चली। कुतबन शेरशाह के पिता हुसैनशाह के आश्रित थे और चिरंजी बंश के शेर खुर्रान के शिष्य थे। इनके प्रेम काव्य का नाम मृगावती है जो इन्होंने सन् १५१२ ईस्वी में लिखा था। चंडनगर के अभिषेक गणपतिदेव के राजकुमार तथा कम्पननगर की राजकुमारी मृगावती की प्रेम-गाथा इसमें अंकित की गई है। प्रेममार्ग के कष्ट तथा त्याग आदि का वर्णन करते हुए कुतबन ने अज्ञात की प्राप्ति के कष्टों का आभास दिया है। मृगावती के उपरांत दूसरी प्रेमगाथा मधुमालती लिखी गई जिसकी एक संस्कृत प्रति खोज में मिली है। इसका रचयिता संस्कृत बड़े ही सरसदृश्य कवि थे। इन्होंने प्रकृति के दृश्यों का वर्णन ही मर्मस्पर्शी बखन किया है और उन दृश्यों के द्वारा अस्पष्ट की ओर बड़े ही मधुर संकेत किए हैं। प्रेमगाथाकारों में सबसे प्रसिद्ध कवि जायसी हुए जिनका पद्यावत काव्य हिंदी का एक जगमगाता रत्न है। इस काव्य में कवि ने ऐतिहासिक तथा काल्पनिक कथानकों के संयोग से बड़ी ही संचकता ला दी है। इसमें मानव-हृदय के उन सामान्य भावों के चित्रण में बड़ी ही उदारता तथा सहानुभूति का परिचय दिया गया है जिनका वेश और जाति की संकीर्णताओं से कुछ भी संबंध नहीं। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए कवि की तन्मयता इतनी बढ़ जाती है कि वह अस्तित्व दृश्य जगत् को एक निरंजन व्योम से आमाश्रित पाता और आनंदान्द्रेक के कारण उसके भाव तात्काल्य का अनुभव करता है। जायसी के उपरांत उममान, शेष नथी, नृमुहम्मद आदि अनेक प्रेमगाथाकार हुए, पर पद्यावत का वा विराट् काव्य फिर नहीं मिलता गया। सगुणोपायक तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों के आधिपत्य से प्रेमगाथाकारों की शक्ति बहुत कुछ क्षीय पड़ गई थी।

उपयुक्त प्रेमगाथाओं में बहुत सी बातें मिलती-जुलती हैं। एक तो इनकी रचना भारतीय भरत-काव्यों की लगभग सीली में न दृष्टर कारती



की भक्तनवियों के संघ पर हुई है। जिस प्रकार फारसी की भक्तनवियों में ईश्वर-बंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तुल्कासीन राजा की प्रशंसा आदि का उत्प्रेक्ष्य कथारंभ के पहले होता था, उसी प्रकार इनमें भी है। प्रेमगाथाओं की भाषा भी प्रायः एक ही है। यह भाषा अरब प्रान्त की है। इन प्रेम की पीर के कवियों का प्रधान केंद्र अरब की भूमि ही थी। छंदों के प्रयोग में भी इस समुदाय के कवियों में समानता पाई जाती है। सबने प्रायः दोहो और चौपाइयों में ही प्रेम-रचना की है। ये छंद अरबी भाषा के इतने उपयुक्त हैं कि महाकवि तुलसीदास ने भी अपने प्रसिद्ध रामचरितमानस में इन्हीं छंदों का प्रयोग किया है। चौपाई छंद को मानो अरबी भाषा के लिये ही बनाया गया हो, क्योंकि अरब भाषा के कवियों ने इस छंद का सफलता-पूर्वक उपयोग कभी किया ही नहीं। समता की अंतिम बात यह है कि प्रेमगाथाकार सभी कवि सुलझमान थे। एक तो यह संभावना ही सुलझमानों के छंदी मत का लेकर लड़ा हुआ या घुसरे हिंदू कवियों में उसी समय के लगभग अनुशासनात्मक पद्धति और वे व्यक्त के भीतर अभ्यक्त का रहस्यमय साक्षात्कार करने की अपेक्षा व्यक्त को ही सब कुछ मानने और अन्ततः कम में कम और कृष्ण की जीवन-गाथा अंकित करने में प्रवृत्त हुए। सुलझमान मारंग से ही मूर्तिप्रेमी थे। अतः उन्हें छत्रियों की रीति के प्रचार का विशेष सुमीला था।

प्रेममार्गी छंदी कवियों ने प्रेम का विषय जिस रूप में किया है उसमें विदेशीयता ही नहीं है, भारतीय रीतिव्यवस्था का भी प्रभाव है। एक तो इस देश की रीति के अनुसार नायक उसना प्रेमोन्मुख नहीं होता बितनी नायिका होती है, परंतु आवसी आदि ने फारसी की रीति का अनुसरण करते हुए नायक को अधिक प्रेमी तथा प्रेमपात्र की प्राप्ति के लिये मयबशील दिखाया है। वास्तव में इन कवियों का प्रेम ईश्वरोन्मुख था। छंदी अपने प्रियतम ईश्वर की कल्पना की कल्पना में करते थे। इसलिये आवसी आदि को भी नायक के प्रेम का ही

प्रधानता देनी पड़ी। परंतु भारतीय शैली के अनुसार असंख्य गानिकार्ये कृष्ण के प्रेम में लीन, उनके विरह में व्याकुल और उनकी प्राप्ति में प्रयत्नशील रहती हैं। वास्तव में यह प्रेम भी अपने शुद्ध रूप में ईश्वरोन्मुख है, क्योंकि भारतीय दृष्टि में कृष्ण भगवान् पूरी कथाओं के अवतार, जगद्गुरु, धार्मिक आदि माने जाते हैं और उनके प्रति योत्सिकाओं का प्रेम पुरुष के प्रति प्रकृति का प्रेम समझा जाता है। दूसरे कवियों पर इस भारतीय शैली का प्रभाव पड़ा था और उन्होंने प्रारंभ में नायक की प्रियतमा की प्राप्ति के लिये अत्यधिक प्रयत्नशील दिखाने की संतोख नहीं कर लिया, बल्कि उपसंहार में नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष की भी दिशाया। दूसरी बात यह भी है कि इस देश में प्रेम की कल्पना साकल्यव्यवहार के भीतर ही की जाती है और कर्तव्य-बुद्धि से उच्छिन्न स्वयं प्रेम का निर्वहण किया जाता है। राम और सीता का प्रेम ऐसा ही है। कृष्ण और गान्धियों के प्रेम में ऐकात्मिकता आ गई है। परंतु सुधियों के प्रेम की तरह यह भी विलकुल लोकवाय नहीं है। भारतीय सुधी कवियों में इस देश की प्रेम-परंपरा का स्तिरस्कार नहीं किया। उनका प्रेम बहुत कुछ लोक व्यवहार के परे है, पर फिर भी अनंतवत् नहीं। जबकि वे तो पञ्चावत में नायिका के स्वीकृत तथा उत्कट प्रति प्रेम आदि का हरव दिखाने अपने भारतीय होने का पूरा परिचय दिया है। इन दो मुख्य बातों के अतिरिक्त प्रेम-वर्णना में अश्लील दृष्टि का मरनक बनाकर प्रकृति के मुरम्य रूपों का चिचित कर महीं के प्रेममार्गी कवियों ने अपने काम्यों को भारतीय जल-वायु के बहुत कुछ अनुकूल कर दिया है।

श्री निन्दन के अनुसार अंत में आत्मा परमात्मा में मिल जाती है। इसी लिये उनकी कथाओं का अंत या समाप्ति दुःखीत हुई है। प्रारंभ में तो यह बात कही रही है, पर आगे चलकर हम संमदाय के करि मद बात भूल गए जबकि भारतीय पद्धति का, जिसमें आश्चर्याद प्रपान था और जिसके अनुसार दुःखान नाटक तक नहीं बन, उन पर

इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उन्होंने नाटक और नायिका का मंगल विचार और मुक्त-मन में रखकर ही अपने ग्रंथ की समाप्ति की है।

सूरी कवियों का प्रेम ईश्वरोन्मुख था। उन्होंने अपने प्रेम-धर्मों में यद्यपि लौकिक कथा ही कही है, परंतु वह लौकिक कथा उनकी हृदया नुमृति को व्यक्त करने का साधन-मात्र है। उस कथा से उनका संबंध बहुत पतित नहीं है, वही तक है जहाँ तक वह उनके ईश्वरोन्मुख प्रेम के अभिस्पर्शन में समर्प होती है। सुधिया का प्रेम ईश्वर के प्रति होता है परंतु ईश्वर तो निराकार है, निर्गुण है अतः अवर्तनीय है। हाँ, उसका आभास देने के लिये लौकिक कथाया की सहायता लेनी पड़ती है। पद्मावत की ही कथा को ले लीजिए। उसमें यद्यपि बिलौड़ के अभिपति रजसेन और सिद्ध द्वीप की राजकुमारी पद्मावती की कथा कही गई है, परंतु जायसी ने एक स्थान पर स्पष्ट कह दिया है कि उनकी यह कथा तो कमकमात्र है, वास्तव में वे उस ईश्वरीय प्रेम की अभिस्पर्श कर रहे हैं। अतएव साधक के हृदय में उत्पन्न होती है और उसे ईश्वर-प्राप्ति की ओर प्रवृत्त करती है। यही नहीं, जायसी ने तो अपने रुक्म को और भी खोला दिया है और अपनी कथा के विविध प्रसंगों तथा पात्रों को ईश्वर-प्रेम के विविध अवस्थाओं का व्यंग्य कहलाता है। इस प्रकार उनकी पूरी कथा एक महान् अन्वेषण ठहरती है। सभी प्रत्यक्ष वर्णन अप्रत्यक्ष की ओर संकेत करते हैं, कवि की दृष्टि से स्वता उनका विरोध महत्त्व नहीं। वह ठीक है कि कवि की दृष्टि ही समीक्षक की भी दृष्टि नहीं होती, अतः साहित्य-समीक्षक सारे वर्णनों को अप्रस्तुत न मानकर बीच-बीच में अप्रस्तु की ओर संकेत मात्र मानते हैं, परंतु संत कवियों का ठीक आशय समझने में हम मूल नहीं कर सकते। रजसेन और पद्मावती के लौकिक रूप से उनका उतना संबंध नहीं था जितना अपने परमार्थिक प्रेम से था। कथा-प्रसंगों में, बीच-बीच में, प्रमी के कष्ट और त्याग आदि के वर्णन मिलते हैं और अन्त्य से किछास प्रकृति के विरह तथा मिलन का ऐसा मर्मस्पर्शी

विशेष मिलता है कि हमारी दृष्टि लौकिक सीमा से ऊँचे उठकर उस आर पाली देख पड़ती है जिस आर ल जाना प्रेममार्गी सत कविता का सक्षय या ।

कबीर आदि संता का रहस्यवाद स नग्न है, अतः वह उतना काष्ठीयप्रेमी नहीं है जितना आकृष्ट आनंद सुक्रिया का । आमरी ने अपनी रहस्यात्मकता को दृश्य वस्तु के नाना रूपों का अम्पक के साथ संबंध प्रतिपाद करते हुए दिखाया है । कमा जब वह दृश्य अगत अम्पक से विबुद्ध होता है तब विषय के कितने ही व्यापक और रमणीय दृश्य दिखाई पड़ते हैं, कमा जब इसका ठठक साथ संभोग होता है, तब सारी प्रकृति माना आनंदोष्मास से नाच उठती है । इन प्रकार प्रकृति की ही सहायता से आमरी का रहस्यवाद व्यक्त हुआ है । इतक विपरीत कबीर ने बेदांत क अनेक बादा तथा अम्य दार्शनिक ऐलियों का अनुसरण करते हुए रहस्योद्गार व्यक्त किए हैं ।

आमरी के कुछ काव्य उपरान्त जब तुलसीदास का आतिमाय हुआ वह सुक्रियों की कविता धीमा हो पली । हिंदुओं की सगुण मक्ति के प्रचार में सुक्रियों की निगुण मक्ति टहर न सकी, वह गढ़ । उतमान जहाँगीर क समकालीन कवि थे । वे शाह निजामुद्दीन चिरदी की शिष्य-परम्परा में थे, इसी वारा इनका गुण व । संवत् १६७० में इनका विशावर्ती मामक काव्य लिखा गया । सभी प्रेमगाथाओं की मति इनमें भी पैदावर गुण आति की संज्ञा है और वारशाह जहाँगीर को भी समरण दिया गया है ।

उतमान क उपरान्त होल नहीं हुए । परन्तु इनके उपरान्त प्रेममार्गी कवि-संप्रदाय प्रायः निर्वीर-शा हो गया । यद्यपि काकिमशाह, नूर मुरम्मद, काकिमशाह आदि कवि होते रहे, पर उनकी रचनाओं में इस संप्रदाय का साथ नाफ दालता-भा जान पड़ता है । हाँ, नूर मुरम्मद की "इशफती" की प्रेम-कहानी अपरय मुँर बन पनी है । यह संवत् १८०१ में लिखी गई थी ।

क्या मायों के बिचार से और क्या मापा के बिचार से सूरी कवियों ने हिंदी को पहले से बहुत आगे बढ़ाया। बीर-भाषा-काव्य में कबल बीरमेलासपूर्व कविता का मृगन हुआ, वह भी परिमाण में अधिक नहीं। उस काव्य की मापा तो निकलुक्त अतिकथित थी। अस्तु कवियों के हाथ में पड़कर वह और भी मोड़ी बन गई। उसके उपरंत कबीर का समय आया। कबीर महात्मा व और उनके द्वारा साहित्य में पूर्य भावनाओं का समावेश हुआ। काव्यत्व के बिचार से उन पूर्य भावनाओं का उत्कर्ष चाहे अधिक न हो, पर इससे उनका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता। कबीर की भाषा तो बहुत ही विगड़ी हुई है। कुछ पंजाबी लड़ी बाली, कुछ मजमापा और कुछ अरबी का पुट लेकर जो लिचड़ी टीवार हुई वह रमते साधुओं के काम की मल ही हो, सर्व साधारण—विशेषकर परिमार्जित रुचि रखनेवालों—के लिये उतमें कुछ भी नहीं है। सूरी कवियों ने अपने उदार भावों को पुष्ट भाषा में व्यक्त करके दोनों ही क्षेत्रों में अपनी सफलता का परिचय दिया। कबीर आदि संतों को बानी सामूहिक रूप से देश के लिए बड़ी हितकारिणी सिद्ध हुई। परंतु सूक्तियों को प्रबंध-रचनाओं व सामाजिक हित भी किंबा और साहित्यिक समृद्धि में भी सहायता दी। यह ठीक है कि सूर और तुलसी आदि के प्रबंध करते ही प्रेममार्गी कवि बहुत कुछ सुझा दिए गए और हिंदी भी अत्यधिक समृद्ध हो गई, पर इतना कहना ही रहेगा कि तुलसी का एक मार्जित भाषा लेकर रामचरित-मानस की रचना में सहायक होने में जायसी आदि सूक्तियों का नाम अवश्य लिखा जायगा। हिंदुओं के प्रति सगुणभूति इन मुत्तमान कवियों की साध विद्येयता है। इनका इवज अतिशय उदार और स्वर्गीय प्रेम की पीर से ओत-प्रोत था। सबसे बड़ी वस्तु इनका कवितागत व्यस्यचार है जिसकी समता हिंदी-साहित्य में कोई नहीं कर सकता।

इन मुत्तमान सूरी कवियों की पैनादेसी हिंदू कवियों ने भी उपासवान-काव्यों की रचना की। पर इन सब काव्यों का ठंय वा तो

पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा पुरातन साहित्यिक है। सूफ़ी कवियों की रचनाओं में धर्म की जो लहर आदरभक्त से व्याप्त हो रही है, उसका हिंदू कवियों की इन रचनाओं में अभाव है। ऐसे काव्यों में लक्ष्मणसेन-रघुपति कथा, दोलामाकरी चतुर्षी, रसरत्न काव्य, चंद्रकला, प्रेमपयोनिधि, कनकमंजरी, कामरूप की कथा, हरिचंद्र पुराण आदि हैं। इनके संबंध में इतना कह देना आवश्यक है कि इन्हीं उपाध्यायों की परंपरा के परिणाम-स्वरूप उन अमर काव्यों की हिंदी में रचना हुई जिनके कारण हिंदी-साहित्य गौरवान्वित और सम्मानित हुआ।

मछि की थी। निवाह ने विष्णु स्वामी से भी अधिक श्रुता से राधा की प्रतिष्ठा की और उन्हें अपने प्रियतम कृष्ण के साथ गोक्षेत्र में बिर-निवाह करनेवाली कहा। राधा का यही चरम उत्कर्ष है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेम-लीला का जो निरुद्ध बखान किया है, उस पर विष्णु स्वामी तथा निवाह के मतो का प्रभाव मालूम है। विद्यापति राधा और कृष्ण के संयोग स्वरूप का ही विशेषतः वर्णन करते हैं। उसमें कहीं कहीं अश्लीलता भी छा गया है। पर साधारण स्वक्तों ने प्रिया राधा का प्रियतम कृष्ण के साथ बड़ा ही सान्त्विक और रसपूर्ण सम्मिलन प्रदर्शित किया गया है। बंगाल के बड़े-हाथ साहिब कृष्ण मठ कवियों ने भी राधा की प्रशानता स्वीकृत की है। प्रसिद्ध मठ और हिंदी की कविनी मीराबाई के प्रसिद्ध पद "मेरे हा गिरपर गोमाल दूछो न काई" में गोमाल कृष्ण का स्मरण है जो निवाह संप्रदाय के प्रवचन के अनुसार है। मीराबाई के कुछ पदों में जो अश्लीलता देख पड़ती है, वह वास्तव में प्रेमातिरेक के कारण है और निःसंदेह सान्त्विक है। विद्यापति और मीराबाई पर विष्णु स्वामी तथा निवाह के मठ की छाप थी। विष्णु स्वामी सिद्धांतों में मध्वाचार्य के और निवाहवादी रामानुज के अनुयायी थे।

वत्समाचार्य के दार्शनिक सिद्धांत गुहाहीतवाद परताए। संस्कार के ज्ञान के बढ़ते ने मछि को प्रवृत्त करते हैं और मछि ही साधन तथा साध्य भी बतलाई जाती है।

सूरदास—वत्समाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रधान, सूरदास के रचयिता, हिंदी के अमर कवि महात्मा सूरदास हुए जिनकी शुरुआत बाबरी से देश के अतंकव्य युद्धे हृदय हरे हो उठे और ममता कलता को जीमे का नवीन उत्प्लाव मिता। सूरदास का जन्म लगभग स १५४४ में आगरा से मथुरा आसपास की ओर के किनारे बनकटा नामक गाँव में हुआ था।

जब महात्मा वत्समाचार्य से सूरदासजी की मेंट हुई थी तब तब

से बैरागी के चेहरे में रखा करते थे। तब से वे उनके शिष्य बन गए और उनकी छाया से नित्य प्रति अपने उपास्य देव और सत्ता कृष्ण की स्तुति में नवीन मन्त्रन बनाने लगे। इनकी रचनाओं का बृहत् समूह सरसागर है जिसमें एक ही प्रसंग पर अनेक पदों का संकलन मिलता है। मक्ति के आदेश में बीणा के साथ गाते हुए जो तरल पद उन ग्रंथ कवि के मुख से निश्चल हुए, उनमें पुनरुक्ति पादे भले हों हों पर उनकी मर्म स्पर्शिता और हृदयहारिता में किसी को कुछ भी संदेह नहीं हो सकता।

सरसागर के संबंध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है। पर अब तक सरसागर की जो प्रतिर्वा मिली हैं उनमें छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते। परन्तु वह संख्या भी बहुत बड़ी है। इतनी ही कविता उसके रचयिता का सरस्वती का बरह महाकवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इस ग्रंथ में कृष्ण की बाललीला से लेकर उनके मोक्षस्वाग और गोपिकाओं के विरह तक की कथा फुटकर पदों में बड़ी गई है। वे पद मुक्तक के रूप में होते हुए भी एक भाव का पूर्णता तक पहुँचा देते हैं। सभी पद गेय हैं, अतः हम सरसागर को गीति काव्य कह सकते हैं। गीति-काव्य में जिस प्रकार छोटे छोटे रमणीय प्रसंगों को लेकर रचना की जाती है, मत्स्यक पद जिस प्रकार स्वतः पूर्ण तथा निरपेक्ष होता है, कवि के आंतरिक हृदयस्फूर्त होने के कारण उसमें जैसे कवि की अतयात्मा झलकती बेर पड़ती है, निरपेक्षात्मक कथा प्रसंगों का बहिष्कार कर तथा श्लेष आदि कठोर और कफुर भावों का लक्ष्यबेध न कर उसमें जैसे सरलता और सफुलता के साथ कामलता रहती है, उसी प्रकार सरसागर के गेय पदों में उपर्युक्त सभी बातें पाई जाती हैं। यद्यपि कृष्ण की पूर्ण जीवन-गाथा भी सरसागर में मिलती है, पर उसमें कथा कहने की प्रवृत्ति विशिष्ट नहीं देग पड़ती, बेगल प्रेम, विरह आदि विविध भावों की वेगपूर्ण व्यंजना उसमें बड़ी ही सुंदर बन पड़ी है।

शारदा की कविता को समर कर देने और हिंदी-कविता में उन्हें

उपासन प्रदान करने के लिये उनका वृद्धाकार भव सूरसागर ही प्रमाण है। सूरसागर हिंदी की अपने वर्ग की अनुपम पुस्तक है। शृंगार और वात्सल्य का जैसा सरस और निर्मल स्रोत इसमें बड़ा है वैसा अन्यत्र नहीं देखा पड़ता। सुप्रभासिसुख्य माघो तक सूर की पहुँच है। साम ही जीवन का सरल आह्वान प्रवाह भी उनकी रचनाओं में दर्शनीय है। यह ठीक है कि लोक के संबंध में गमीर व्याख्याएँ सूरदास ने अधिक नहीं की, पर मनुष्य-जीवन में कोमलता, सरसता और सरसता भी उतनी ही प्रयोजनीय है, जितनी गंभीरता। तत्कालीन स्थिति को देखते हुए ही सूरदास का उद्योग और भी खुल्य है। परंतु उनकी कृति तत्कालीन स्थिति से संबंध रखती हुई भी सार्वकालीन और निरंतर है। उनकी उत्कृष्ट कृष्ण-भक्ति ने उनकी सारी रचनाओं में जो रमणीयता भर दी है, वह अप्रतुलनीय है। उनमें नवोन्मेयतासिनी अद्भुत प्रसिद्धा है। उनकी पवित्र बाणी में जो अनूठी उल्लिखी आपसे आप आकर मिल गई है, अन्य कवि उनकी श्रुति से ही संतोष कर सकते हैं। सूरदास हिंदी का अन्यतम कवि हैं। उनके बोध का दूसरा कवि गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर दूसरा नहीं है। इन दोनों महाकविता में कौन बड़ा है यह निश्चयपूर्वक कर नकना सरल काम नहीं।

महाकवि सूरदास का अतिरिक्त उपाह्वय के प्रेम में मग्न, सरस पर रचना बहुत कृष्णराम परमानंद, कृमनदास, चतुर्भुजदास, धृति स्वामी गोविंदस्वामी आदि अष्टाक्षर के कवि बलभस्वामी और उनके पुत्र विठ्ठलनाथ की शिष्य-परंपरा में हुए। इन अनेक उत्कृष्ट कवियों से हिंदी-साहित्य की श्रेष्ठ भविष्य हुई।

द्विहर्षिष्य और स्वामी हरिदास—अष्टाक्षर के बाहर एकत्र भक्ति-काम्य की रचना करनेवालों में वे कवि विशेष रीति से उल्लेख योग्य हैं, क्योंकि वे दोनों ही उत्कृष्ट पदों के मंचेता और नवीन संप्रदायों के स्रष्टा हुए। द्विहर्षिबंशी माधव और निबार्क मंडो से प्रभावित थे, पर उन्होंने रामा की उपासना महत्त्व कर रामावस्थामी

प्रदाय की छवि की। उनके “रागा-मुगानिधि” और “रित पौरुषी” नामक ग्रंथ के समीप अत्यंत कोमल और सरस भाषाप्रिय हैं। इनके शिष्यों में प्रबुद्धाग और व्यासजी प्रधान हुए, जिनकी रचनाओं से हिंदी की पर्याप्त भीति हुई। अत्यंत कोमल भाषाप्रिय सरस पंनों के रचयिता रत्नरत्न मो इस युग के भक्तिश्रोत में मम महाकवि हुए।

अकबर की दरबार—इन भक्त कवियों के समकालीन प्रसिद्ध मुगल-सम्राट् अकबर के दरबार में भी अनेक कवियों का प्रभय मिला था। अकबर का राज्य-काल सुख और समृद्धि से संपन्न था। वैभव की अदृष्टिकार्य लकी की जा रही थी। हिंदू और मुसलमानों का साम्य बढ़ रहा था। उस दरबार पर नीतिकार और सुदृढ़ कवियों का अत्युदय स्वामानिक था।

रहीम—अकबर के दरबार के उच्च कमचारी दास हुए भी वे हिंदी कविता की ओर गिरे थे। नीति के मंत्र मंत्र शब्द इन्होंने बड़ी मर्मिकता से कहे। जीवन के सुख-वेदों का अछूटा अनुभव करने के कारण रहीम की कविताओं में सदा माधव-स्मरण है। दासों के अतिरिक्त इन्होंने बरत, खेरदा, सवेया, कपिल आदि अनेक छंदों तथा संस्कृत के श्लोकों में भी रचना की है। उनका बरत छंद में लिखा नायिकावेद टेट अक्षरी के माधुर्य से मनन्य है। कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास वृद्ध में इससे प्रभावित होकर इसी छंद में बरत समायण लिखी थी। गोस्वामीजी की ही भाँति रहीम का अक्षरी और ब्रजभाषा दोनों पर समान अधिकार था और गोस्वामीजी की रचनाओं की भाँति इनकी रचनाएँ भी जनता में अत्यधिक प्रचलित हुईं। गोस्वामी जी से इनकी मेट हुई थी और दोनों में लड़ाई माधव भी था। वे थे ही उग्रहृदय दासों से और इनका अनुभव महा ही विरगुल, सुख और सत्य था।

गंग और नरहरि—ये दासों ही अकबर के दरबार के भेट हिंदू कवि थे। गंग की गृंगार और बीरब की जो रचनाएँ कथनों में

मिली हैं, उनसे भाषा पर इनके अधिकार और वाग्मैत्र्य का पता चलता है। बनवा में इनका बड़ा नाम है, परंतु इनकी एक भी उचित पुस्तक अब तक नहीं मिली। “मलसी गंग दोऊ मण, मुकविन के लखार” की पंक्ति इन्हीं को सूचक करके कही गई है। नखरि बदीन अकबर के दरबार में सम्मानित हुए थे। कहते हैं कि बादशाह ने इनका एक शिष्य बुनकर अपने राज्य में गो-वध बंद कर दिया था। नीति पर इन्होंने अधिक ध्यान लिखा।

अकबर के दरबारियों में बीरबल और टोडरमल भी कवि हो गए हैं। बीरबल अकबर के मंत्रियों में से थे और अपनी वाक्पटावली तथा विनोद के लिये प्रसिद्ध थे। इनके आश्रय में कवियों को अष्टाष्ट सम्मान मिला था और इन्होंने स्वयं ब्रजभाषा में सरस और सानुप्राय रचना की थी। महाराज टोडरमल के नीति-संबंधी फुटकर छंद मिलते हैं जो कविता की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि के नहीं हैं। इनके अतिरिक्त मनाहर, हासराज आदि कवि भी अकबरी दरबार में थे। स्वयं बादशाह अकबर की भी ब्रजभाषा में कुछ रचनाएँ पाई जाती हैं। ब्रजभाषा को रचना का राजसम्मान इसके पहले कभी नहीं मिला था।

दरबार से असंपर्कित कवियों में सेनापति का स्थान सर्वोच्च है। इन्होंने पट्टशत्रुघो का वर्णन किया है जो बड़ा ही हृदयग्राही हुआ है। इन्होंने प्रकृति की सूक्ष्म सूक्ष्म बातों का अनुमान भी था और इनका निर्दोष भी विशेष तीव्र था। इनकी मिश्रण समय की मछि और वैद्यक की रचनाएँ विश्व पर स्थायी प्रभाव डालती हैं। इनकी भाषा ब्रज की प्रामाण्य होठे हुए भी अलंकृत है। इनका कवि-रसाकर अब तक अद्यपर्यंत है।

ऐसी काल की रचनाओं में नरोत्तमदास का “गुणामा-चरित” भी है, जो कविता की दृष्टि से अष्टाष्ट है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अकबर और जहाँगीर के राज्यकाल में हिंदी कविता, क्या भाषा और क्या भाषा की दृष्टि से विशेष प्रगति हो गई।

(७) रीति-काल

हिंदी में सूर और तुलसी के समय तक साहित्य की इतनी अधिक अभिवृद्धि हो चुकी थी कि कुछ लोगों का ज्ञान भाषा और भाषों को अलंकृत करने तथा संस्कृत की काव्य-रीति का अनुसरण करने की ओर लीन रहा था। इसका यह अर्थ नहीं है कि सूर और तुलसी तथा उनके पूर्व के संतकवियों में आलंकारिकता नहीं थी अथवा वे काव्य-रीति से परिचित ही न थे। ऐसी बात नहीं थी। अनेक कवि पूर्ण शास्त्रज्ञ और काव्य-कलाविद् थे। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म आलंकारिक शैलियों का पूरा पूरा ज्ञान रखते थे। स्वयं महात्मा तुलसीदासजी ने अपनी अनमिद्वता का विज्ञापन करते हुए भी ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर अपना पूर्ण आधिपत्य तथा काव्य-रीति का सूक्ष्मतम अभिज्ञान लिखाया है। अतएव इतना ही है कि उन्हें काव्य-कला को साधन-मात्र बनाकर रचना करनी थी, साध्य बनाकर नहीं। अतएव उन्होंने आलंकारों आदि से अशायद का काम लिया है, शायी का नहीं। इससे विपरीत पीछे के आ कवि हुए, उन्होंने काव्य-कला की परिपुष्टि का ही प्रधान मानकर शेष सब बातों का गौण स्थान दिया और मुक्तकों के द्वारा एक एक अलंकार, एक एक नायिका अथवा एक एक भूत का वर्णन किया है। आगे चल कर यह प्रथा इतनी प्रचलित हुई कि बिना रीति-ग्रन्थ लिखे कवि-कर्म पूरा नहीं समझा जाने लगा। हिन्दी-साहित्य के इस काल का हम इसी लिये रीति-काल कहते हैं। नीचे रीति-काल के कुछ मुख्य कवियों तथा भाषाओं का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

केशवदास—यद्यपि समय विभाग के अनुसार केशवदास भक्ति-काल में पड़ते हैं और यद्यपि गान्ध्यामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा रामचंद्रिका आदि ग्रन्थ लिखने के कारण वे १५ जे १५

नहीं करे जा सकते, परंतु उन पर सिद्ध हो जात है संस्कृत-साहित्य का रहना अधिक प्रभाव पड़ा था कि अपने काल की हिंदी काव्य-भाषा से पुनश्च होकर वे अमलकारवादी कवि हो गए और हिंदी में रीति-ग्रंथों की परंपरा के आदि आचार्य कहलाए ।

केदारदास आहूये के राजा "प्रविविध" के आश्रित दरबारी कवि थे। संस्कृत-साहित्य-मग्न रीति-परंपरा में उत्पन्न होने के कारण इनकी प्रवृत्ति रीति-ग्रंथों की ओर हुई थी। संस्कृत से पूर्ण परिचित होने के कारण इनकी भाषा संस्कृत मिश्रित और साहित्यिक है। इनकी कृतियों में कविप्रिया, रतिकप्रिया, रामचंद्रिका आदि मुख्य हैं। यद्यपि केदार के पहले भी कुमारम, गोप, मदनमाला आदि में रीति-साहित्य के निर्माण का प्रारंभ किया था, पर उनकी रचनाएँ केदारदास में सर्वोत्तम माना के सामने एकान्ती हो गई हैं। रीति-काल के इन प्रथम आचार्य केदारदास का स्थान हिंदी में बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। कुछ आलोचक उन्हें हृदयहीन कहते हैं, पर हृदयहीन कहकर संबोधित करने में हम उनके प्रति अन्याय करते हैं; क्योंकि एक तो उनकी हृदयहीनता बानी-समस्त हृदयहीनता है और फिर अनेक स्थलों में उन्होंने पूर्ण सहृदय होने का परिचय दिया है। जिस कवि की रसिकता वृद्धापस्था तक बनी रहे, उसे हृदयहीन कहा भी कैसे जा सकता है ? यह बात अचर्य है कि केदारदास उन कविपुंगवों में नहीं गिने जा सकते जो एक विशिष्ट परिस्थिति के निर्माता हैं। वे तो अपने समय की परिस्थिति द्वारा निर्मित हुए हैं और उसके प्रत्यक्ष प्रतिनिधि हैं।

धितामणि और मतिराम—वे बिपाठी-वंश मुख्य रूप से रीति-रीती की रचना करनेवाला में अभिगामी हुए। धितामणि के काव्यविशेष, कविकुलकल्पतरु, काव्यप्रकाश आदि बड़ी ही सरस कविता मुख्य हैं। मतिराम तो अपनी भाषा और भावों के सरल सुंदर स्वाभाविक प्रवाह के लिये रीति-काल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में परिगणित हुए। रसराज और कविराजराज रीति-काल की बेह रचनाएँ इनकी ही कृतियाँ हैं।

विहारीलाल-रीति-काव्य के कवियों में प्रसिद्धि की दृष्टि से विहारी अन्यतम है। विहारी उस भेदी के समीक्षकों में सबसे अधिक प्रिय है या अलग अलग दावों की कारीगरी पर मुग्ध होते और बात की कसमात पर्यट करत हैं। सौंदर्य और प्रेम के सुंदरतम चित्र विहारी ने खींचे हैं। पर अलंकरण की ओर उनकी प्रवृत्ति सबसे अधिक थी। उनकी कविता आवश्यकता से अधिक नपी-मुला हा जाने के कारण सर्वत्र स्वाभाविकता-समन्वित नहीं है। विहारी ने घाट-बाद देवने में कितना परिश्रम उठाया होगा, उतना वे यदि हृदय की टोह में करते तो हिंदी कविता उन्हें पाकर अधिक सीमाव्यवस्थिनी होती। यह सत्य होने हुए भी उनकी सतर्क हिंदी की अमर कृति कहलायगी और भेदी विशेष के साहित्य-समीक्षकों तथा काव्य-प्रमियों के लिये तो यह सर्वश्रेष्ठ रचना है ही। दावे जैसे छोटे छंद में इतन अलंकारों की सफल वाचना करने में विहारी की टक्कर का कदाचित् ही कोई कवि हिंदी में मिले।

नव—ये हमारे के रहनेवाले काव्यकुल्ल भास्वयं*। इनका काव्यक्षेत्र बड़ा व्यापक और विस्तृत था। रीति-काव्य के कवियों में इतनी व्यापकता और कहीं नहीं देख पड़ती। प्रेम का सौंदर्य विवृति सत्य अतः सर्वश्रेष्ठानों है। परंतु इनके गायन का मुख्य विषय प्रेम है। रीति-काव्य के दावे से आज्ञाओं में प्रेम की गणना की जाती है। रीति संबंधिनी उनकी कुछ स्वतंत्र उदाहरणों का उत्प्रेषण भिन्न-बंधुओं ने किया है। पंडित की दृष्टि से रीति-काव्य के समस्त कवियों में प्रेम का स्थान आचार्य केशवदास से कुछ नीचे माना जा सकता है। कलाकार की दृष्टि में वे विहारी से निम्न उतर सकते हैं, परंतु अनुभव और तत्त्व-वर्धिता में उस कवि की काव्य प्रतिभा का मिलन करने और सुंदर

* इस संबंध में पं शास्त्राम शास्त्री का मत वृत्तरा है।

कल्पनाओं की अनासी शक्ति लेकर विकसित होने के कारण हिंदी काव्य-क्षेत्र में सहाय्य और प्रेमी कवि देव को रीति-काल का प्रमुख कवि स्वीकार करना पड़ता है।

मिलतारीदास—ये लोग, प्रतापगढ़ (अजमेर) के खमेवाले कामस्य कवि थे। इनका काव्य-निर्याम प्रथम अवधि रीति के विचारियों का प्रिय श्रेय है। मिलतारीदास के व्यापार्यत्व की बड़ी प्रशंसा की जाती है और रीति के सय अंगों का विवेचन करने के कारण उनकी कृतियाँ बड़ आदर से देखी जाती हैं। उनकी सुंदर समीक्षाओं तथा मौखिक उद्भावनाओं का उल्लेख भी किया गया है। कविता की दृष्टि से दासजी की रचनाएँ बहुत ऊँची नहीं उठती। रीति-काल के पूर्ववर्ती कवियों के माथों को लेकर स्वतंत्र विषय काढ़ा करने में यद्यपि वे बड़े पटु थे, पर माथों के निर्बाह की मौखिक शक्ति न होने के कारण उन्हें सफलता कम मिली है। अजमेर में रहकर शुद्ध चम्पवी ब्रजभाषा लिख सकना तो बहुत कठिन है, पर दासजी की माया सामान्यतः शुद्ध और साहित्यिक है। इससे उनके ब्रजभाषा के विस्तृत अध्ययन का पता चलता है। समीक्षा इति के अभाव के कारण रीति की सीढ़ पर चलनेवाले अनेक कवियों से मिलतारीदास का स्थान बहुत ऊँचा है, पर कवियों की बहुत ऊँची पंक्ति में उन्हें कमी स्थान नहीं दिया गया।

पद्माकर—रीति-काल के अंतिम चरण के पद्माकर सबसे प्रसिद्ध कवि हैं। ये वैष्णव ब्राह्मण मोहनलाल मठ के पुत्र थे। मित्र की प्रसिद्धि के कारण अनेक राजपरवारों में इनका सम्मान हुआ था। इनकी गृह्याररत की कविताएँ इतनी प्रसिद्ध हुईं कि इनके नाम पर कितने ही कवि-नामधारियों ने अपनी कुसिद्ध रचनाओं से उनके उद्गारों को मनमाने ढंग से फैलाया। आज भी इनके नाम की ओर लेकर बहुत-सी अश्लील रचनाएँ देहातों की कविमंडली में सुनी सुनाई जाती हैं। पद्माकर की कृतियों में बड़ी खोज अश्लीलत्व है तो उनके अनुकरणकारियों में उसका दशगुणा। पद्माकर की अनुप्रासप्रियता भी

बहुत प्रसिद्ध है। जहाँ अनुप्रासों की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा वहीं भावों का नैसर्गिक प्रवाह अवरुध्द मग हुआ और भाषा में अवरुध्द ठाढ़-मरोड़ करनी पड़ेगी। संतोष की बात इतनी ही है कि उनके छंदों में उनकी भाषा द्वारा जो सरल स्वच्छंद प्रवाह मिला है, जिनमें हावों की सुंदर योजना के बीच में सुंदर चित्र खड़े किए गए हैं।

इसके अतिरिक्त कालिदास त्रिवेदी, कुसुमपति मिश्र, कृष्ण कवि, व्यास कवि बनानंद, ठाकुर कवि, तोपनिधि, पान कवि, बृहद्विष्णुदेव, मंकाज, पद्मनेत, प्रतापनाथ, बोधा, सूर्यति (राजा गुरुदत्त सिंह), मंडन मिश्र, महाराज अचरंत सिंह, यशभानुवन, खुनाय, रसनिधि, रसलीन, रसिक मुमति, भीषर वा मुरलीधर, भीषति, सुलदेव मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

भूपण और लाल—हिंदी के इस सर्वतोम्भाक्ष गंगार-प्रवाह के बीच भूपण और लाल का अम्युदय हुआ, जिन्होंने भारतीय आगर्षि का शक्तिशाली उपक्रम किया। औरंगजेब के बार्मिक कहरपन के कारण जब हिंदू जाति का अस्तित्व ही संकटापन्न हो गया, तब प्रतिकार की प्रेरणा से महाराष्ट्र-शक्ति का अम्युदय हुआ। इस शक्ति को संघटित करनेवाले छत्रपति शिवाजी हुए जिनके माग प्रदर्शन का काम समर्थ गुरु रामदास ने किया था। शिवाजी के अतिरिक्त बुदेलखंड के प्रसिद्ध अभिषेध छत्रताल ने भी स्थानीय रामपूत-शक्ति का उत्तेजित करने का उत्कृष्ट प्रयास किया था। इस प्रकार महाराष्ट्र और मध्यदेश की शक्ति का जो उत्थान हुआ, उसमें राष्ट्रीयता की पूरी पूरी मल्लक दिग्वार पड़ी। संशय से इन दोनों राष्ट्राधारकों को भूरुप तथा लाल जैसे मुकदियों का सहयोग भी प्राप्त हुआ, जिससे शक्ति संघटन में बड़ी सहायता मिली। जातियों के उत्थान में जब कभी महात्माओं, योद्धाओं तथा कवियों का सम्मिश्रित सहायता मिलती है, तब बह मंके ही सीमाय की खूना शक्तों के और उससे उनका कल्याण का पथ बहुत कुछ निश्चित और निश्चित हो जाता है। उसी काल में छिदरों की प्रियता

का भी उदय हुआ और उन्होंने राष्ट्रियता की भावना में पूरा पूरा सहारा दिया, पर सिमल वर्म का आरम्भ सतों की बाजी तथा उन्हीं की मूर्ति और प्रसिद्धि के अनुकूल हुआ था। पीछे से समय की स्थिति ने इस वर्म पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह सत साधुओं के वर्म का बाना उतारकर बीरो की बेश-भूषा तथा कृतियों से सुसज्जित और अलंकृत हो गया। यद्यपि शुद्ध गोपब्रह्मसिंह के समय में हिंदी काव्यों की रचना हुई, पर वे बीरगाथात्मक नहीं थे वरन् उस समय के साहित्य की प्रगति के अनुकूल थे। मूयश और लाल की रचनाओं पर विचार करते हुए हमें यह भूल न जानना चाहिए कि इनका आविर्भाव उस काल में हुआ था जिस काल में रीति-ग्रंथों की परंपरा ही सर्वत्र देख पड़ती थी। नाविका-मेर की पुस्तकों, नक्षत्रिण वर्णनों और शृंगाररस के फूटकर पड़ा का सो प्रबल प्रभाव उस समय लगा था, उससे बचकर रहना ठीकाहीन किसी कवि के लिए बड़ा ही कठिन था। मूयश और लाल भी उस सर्वोत्तम प्रभाव से एकदम बचे न रह सके। यद्यपि मूयश की सभी रचनाएँ भावा बीररस की हैं परंतु उन्होंने अपने “शिवराजभूषण” नामक ग्रंथ में उन रचनाओं की विविध अलंकारों आदि के उदाहरण स्वयं रखा है। यह काल-योग था। उस समय इससे बच सकना अठम था। इसी प्रकार लाल कवि ने भी यद्यपि बीररस धारण किया था, तथापि “विष्णुविलास” नामक नाविका-मेर की एक पुस्तक उन्होंने लिख ही डाली। कविवर लाल के ‘सुखप्रकाश’ नामक ग्रंथ में प्रसिद्ध सुखलाज की बीरगाथा अंकित है और प्रबंध-काम्य के रूप में होते हुए भी उसकी रचना आत्यंत मौढ़ और मार्मिक हुई है। महाकवि भूषण की ही भाँति कविवर लाल के इस ग्रंथ में जातीयता की भावना मिलती है और उन्हीं की भाँति इनकी इस रचना में शृंगाररस नहीं आने पाया है।

(८) आधुनिक काल—पद्य-प्रवाह

कविता में परिवर्तन—हिंदी की हासकारिणी शृंगारिक कविता के प्रतिष्ठित आंदोलन का भीगसुर उस दिन से समझा जाना चाहिए जिस दिन भार्तेन्दु हरिश्चंद्र ने अपने “भारत-वुर्द्धा” नाटक के प्रारम्भ में समस्त देशवासियों को संबोधित करके देश की गिरी हुई अवस्था पर उन्हें आँसू बहाने का आह्वान किया था। इस देश के और यहाँ के साहित्य के इतिहास में वह दिन किसी अन्य महापुरुष के जन्म-दिन से किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण नहीं है। उस दिन शताब्दियों से छेला हुआ साहित्य में जागने का उपक्रम किया था, उस दिन हृदयों की अनिष्टकर परंपरा के विच्छेद प्रबल कालि की पोखरा हुई थी। उस दिन विद्वत्-मिश्र देश को एक सूत्र में बाँधने की दृढ़ भावना का उद्गम हुआ था। उसी दिन देश और जाति के प्रायः एक सन्धिवि में सम्मेलन जातीय जीवन की मजलक लिताई थी और उसी दिन संकीर्ण प्रांतीय मनावृत्तियों का अंत करने के लिये स्वयं सरस्वती ने राष्ट्रमाया के प्रतिनिधि कवि के कंठ में बैठकर एक राष्ट्रीय भावना उच्छ्वसित की थी। भारत माता की करुणोन्मेषता छवि देश ने और देश के साहित्य ने उसी दिन देखी थी और उसी दिन सुनो थी दूरी-फूटी शृंगारिक बीणा के पण्डित गंभीर झंकार, जिस सुनते ही एक नवीन जीवन के उत्थान में वह मान डटा था।

राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद, भार्तेन्दु हरिश्चंद्र आदि के उद्योग में सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में २। हमसब मन्त्री उसके परियाम-स्वरूप अपने अधिक महत्त्व प्राप्त हुई, जनता में शिक्षा की अभिरुचि। संस्कृत तथा उर्दू भारती को धार प्रवृत्त करनेवाली प्रस्था स्वामी दयानंद से अभिप्रे

अनेकमुसी शास्त्रकारों के कारण मिथ मिथ पाठकों की रुचि को भिन्न भिन्न प्रकार से आकर्षित करते हैं। पंथि नाथूरामजी रामा विशाखा शम्भू-निर्माता और कवि हैं। आर्यभट्टाजी होते हुए भी उनकी सब कविताएँ सांप्रदायिक नहीं हो गई हैं और कुछ में तो उत्तम कंठों के कविता की झलक मिलती है। गंगारत्न के पद्याकारी कवियों की भाँति भी इन्होंने कुछ कविताएँ कीं, पर वे उनके योग्य नहीं कही जा सकती।

मैथिलीशरछ गुप्त—बाबू मैथिलीशरछजी गुप्त आधुनिक लखी-बोली के सपष्ट प्रसिद्ध प्रतिनिधि कवि हैं। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव में रहकर उन्होंने अपनी माया का बड़ा ही सुंदर और परिमार्जित रूप लका दिया। द्विवेदीजी की ही भाँति उनकी माया में संस्कृत का पुट रहता है, पर 'प्रियप्रवास' की भाँति वह अतिरिक्त संस्कृत-गर्भित नहीं होता। उर्दू के बहुत ही बोड़े शब्दों को महत्व करने के कारण वे पंडित गंगाप्रसाद 'सनेही' जी की उर्दू-मिश्रित कविता-शैली से भी विभिन्न रूप में हमारे सामने आते हैं। माया की दृष्टि से उनका मध्यम मार्ग ही कहा जायगा। लोकप्रियता की दृष्टि से मैथिलीशरछजी को अतिना गौरव प्राप्त हुआ है, उतना आधुनिक काल में किसी कवि को नहीं प्राप्त हुआ। गुप्तजी की 'मारत-मारती' सब भी देख मेंही मधुबनका का कठार हो रही है। उनके लैक्यों पर हिंदी-माया भाषी जनता की जिह्वा की नोक पर बरे पड़ते हैं। कितने ही नीतिकुर कवि सब भी उसका अनुसरण करते देखे जाते हैं। पर काव्य की दृष्टि से उसका विरोध महत्व नहीं है। काव्य की दृष्टि से उनका 'जयप्रवास' लंब-काव्य लच्छा हुआ है। उसमें बीररत्न का पूर्ण परिपाक और बीच बीच में कदररत्न के सुंदर छंदों से मन रसमग्न हो जाता है। उनकी अन्य रचनाओं में 'पंचवटी' सर्वश्रेष्ठ है। उसमें काव्य का परिपक्वता ॥ उपलब्ध विविध हुआ है, और पूरी पुस्तक में सुंदर पद्यों की अनोखी कला देख पड़ती है। गुप्तजी का आधुनिक समय का प्रतिनिधि कवि होना इसी बात से सिद्ध होता है कि उनकी छायावाद

के ढंग की रचनाएँ भी उस ओसी के कवियों की मर्यादा या चुकी हैं। गुप्तजी की कविता में कहीं कृत्रिमता नहीं देख पड़ती। गुप्तजी ने 'खाबेत' नामक एक महाकाव्य भी लिखा है। उसके बहुत-से अंश हिंदी के सामयिक साहित्य पक्ष में यथासमय प्रकाशित हो रहे हैं। गुप्तजी की इस कृति में निम्नलिखित हैं। उन्हें हिंदी के आधुनिक कवियों में ठीक आसन प्रदान किया है। उन्होंने ईंगला के प्रसिद्ध कवि माइकेल मयुत्तदन इस के 'येपनादबब', 'बीरंगना', 'विरहिणी बजांगना' तथा नवीनचंद्र सेन के 'फ्लासीर बुद्ध' का भी हिंदी में अनुवाद किया है। इन अनुवादों में गुप्तजी का अद्भुत समर्थता मिली है। इनसे उनकी विसृज्य क्षमता का पता तो चलता ही है, पड़ीकाली की शब्द-शक्ति भी प्रकट होती है।

सनेहीजी और दीनजी—प्रसिद्ध गवामसाद शुक्ल सनेही और साता मगवानदीन उर्वू मिली भाषा में कविता के अनुयायी हैं। दोनों ही राष्ट्रीयता के भाव का लेकर आए हैं और दोनों की रचनाएँ आज स्थिती हुई हैं। अतएव इतना ही है कि सनेहीजी ने आधुनिक समाज का अपनी कविता का लक्ष्य बनाया और दीनजी महात्मा प्रताप, शिवाजी आदि और वृत्तियों की प्रशस्तिपूर्ण निरूपण में लग रहे। राष्ट्रीय कवियों की शक्ति की दृष्टि भाषा लेकर नहीं चलना पड़ता, उन्हें तो जनता की प्रचलित भाषा का आश्रय लेना पड़ता है। इस दृष्टि से सनेहीजी और दीनजी दोनों न ही भाषा का उपयुक्त चुनाव किया है। राष्ट्रीय कवियों का पूरी सहमता सभी मिल सकती है इस से राष्ट्रीय आश्रयना में स्वयं सम्मिलित हो और उदात्तपूर्वक जनता का मुक्ति का पथ दिखाना। नंद, भूषण आदि और कवियों ने ऐसा ही किया था। हिंदी के आधुनिक राष्ट्रीय कवियों में पणित माधनसास बसुवैर और प्रसिद्ध पालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का काव्य इस दृष्टि से प्रशंसनीय कहा जायगा। सनेहीजी की कुछ व्यंग्यारिख रचनाएँ अच्छी नहीं हुई हैं, पर वे उनकी मार्मिक कृतियाँ हैं।

शुक्लजी—पंडित रामचंद्र शुक्ल की प्रसिद्धि उत्कृष्ट गद्य-लेखक और सम्पादक की दृष्टि से है, उनकी कविताएँ उन्हें अधिक सम्मानित नहीं कर सकी हैं। कुछ पंडित के व्यक्तित्व उनकी अन्य रचनाएँ इसमें उपर विपरीत पड़ी हैं, संघर्षित नहीं हुई हैं। शुक्लजी हिंदी के विद्वान् और दार्शनिक आलोचक हैं, परंतु उनकी सहृदयता भी विशेष उल्लेख योग्य है। बन्ध प्रकृति के उबाड़ और हमें स्वयं के प्रति भी उनका झिंझना अनुपम है उतना बगीचा में बिसे हुए गुलाब के फूल के प्रति नहीं। सौंदर्य को बड़े ही व्यापक रूप में देखने की दृष्टि शुक्लजी को मिली है। उनके साहित्यिक वर्णन सुदृढ़-चरित के सर्वश्रेष्ठ ज्ञेय हैं, उनसे उनका दृश्य निरीक्षण प्रतिभासित होता है। 'हृदय के मधुर मार' शीर्षक उनके फुटकर पद्यों में कहीं व्यंग्य और कहीं मीठी चुड़चुड़ियों के द्वारा मानव-समाज की अहंता, पुर्बलता और अहंकारिता का नम रूप दिखाया गया है।

त्रिपाठीजी—पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने हिंदी में 'मित्रान', 'पथिक', तथा 'स्वप्न' नामक तीन लघु-काव्यों की रचना की है। उनका माया में संकुल का सौंदर्य दर्शनीय है। बचपि उनमें माया की प्रभुता नहीं है, पर एक ही वस्तु को बड़ी सुंदरता से कई बार दिखाने में उन्हें बड़ी कष्टतया मिली है। राष्ट्रीयता की भावना उनकी पुस्तकों में मरी पड़ी है। इसी से राजनीतिक क्षेत्र के बड़े-बड़े व्यक्तियों ने उनकी प्रशंसा की है, बचपि उनकी राजनीति कहीं कहीं उनकी कविता में बाधक हो गई है। 'विषया का दर्पण' शीर्षक उनकी एक सुछंद रचना हिंदी में उनकी अब तक की कृतिओं में उच्च स्थान की अवि-कारिणी है।

ब्रजभाषा के आधुनिक कवि—ब्रजभाषा में कविता करने-वालों में हरिश्चंद्र के संपादित प्रेमधन और श्रीधर पाठक भेद कम हुए। इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके परंपरा-स्वरूप पंडित कल्पमाराधक शर्मा कविराज और बाबू जगन्नाथदास खन्नाकर का नाम

विद् है। राय देवीप्रसाद 'पूखे' कानपुर के बकील थे। वे ब्रजभाषा की अच्छी कविता करते थे। उनके 'चंद्रकला-मानुसुमार' नाटक के कुछ सबसे ऐसे उत्कृष्ट हुए हैं जो देश और मतिगम का समता करते हैं। उन्होंने कालिदास के अमर काव्य 'मेघदूत' का ब्रजभाषा में 'पारसमण्डपावन' नाम से अनुवाद भी किया है। वे लखीबोली में भी कविता करते थे। उनकी कुछ कविताओं में 'चंद्रकला-जम्भ' नामक कविता अच्छी बन रही है।

पंडित सत्यनारायण कमरल्ल ब्रजमंडल (छागरे) के रहनेवाले, बनारस के अनन्व मठ, बहुत ही रसिक और सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी रचनाओं में ब्रज की भाषा की लयालप्य मरी है। उनकी कुछ कविताओं का संग्रह 'द्वय-तरंग' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। उन्होंने भक्तमूर्ति के 'मानसी-भाष्य' नाटक का ऐसा सरल और समुद्र अनुवाद किया है, जिसमें भीतिभटा का अभाव कमजोर है। देश के कुछ महापुरुषों—जैसे महात्मा गाँधी, कबीर रवींद्र, स्वामी रामतीर्थ, लाल्लभाय शिखर आदि की जो प्रशस्तिवाँ सत्यनारायणजी ने लिखी हैं वे भी बड़े भावों की हैं। स्वदेशानुराग की सभी मूलक दिगानेवाले छोटे कवियों में उनकी गणना होती।

रत्नाकरजी—ब्रजभाषा के आधुनिक सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। इनका 'हरिचंद्र' काव्य सुंदर हुआ है, पर 'गंगाधर' नामक नवीन रचना में इनकी सभी काव्य-प्रतिभा अमर उठी है। इस ग्रंथ में रत्नाकरजी ने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हार्दिक भावों का सामंजस्य दिया है। रत्नाकरजी को भाषा-नीली पद्याकरी कही जा सकती है और अनुभाषों के प्रस्तुत करने में उन्होंने आधुनिक मनापिठान के सिद्धांतों का उपयोग किया है। ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों में शिवाजी हरिजी की भी अच्छी प्रतिष्ठा है। वे मन्द हैं, दार्शनिक हैं और पौर-रस की कविता करनेवाले हैं। यद्यपि यह युग ब्रजभाषा का मरी है तथापि उपयुक्त कवियों की रचनाएँ उत्कृष्ट भी हुई हैं और

पठित बनना में उनका प्रचार भी हुआ है। आधुनिक काल के प्रथमपात्र के कवियों में रवाकरजी का स्थान उपभोग्य है।

अन्य कविगण—इस युग के अन्य कवियों में पंडित कसनारायण पंडित, बाबू सिंमारामशरण गुप्त, पंडित अनूप शर्मा, पंडित गिरिधर शर्मा, पंडित कामठाप्रसाद गुप्त, पंडित रामचरित उपाध्याय, पंडित लालनमोहन पंडित, ठाकुर गोपालशरण सिंह, भीमवी सुमता कुमारी चौहान आदि भी उल्लेखयोग्य हैं। कसनारायणजी की भाषा चकती हुई लड़ी वाली है। उनकी कविता में पूरी रसात्मकता है। हिंदी की लीरिक कविताओं में उनकी 'वन विदग्गम' शीर्षक रचना उत्कृष्ट है। सिंमारामशरणजी ने सामाजिक कुतेशियों पर हसनी तीव्र व्यंग्यमयी और कटु कविता की है कि जिस पर रवाजी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। समाज-नीति को व्यापकयोगी बनाने की निधि हिंदी में सिंमारामशरणजी का सबसे अधिक छाती है। इस क्षेत्र में उनकी उपलब्धता प्रायः अद्वितीय है। वीररत्न की कम्कती हुई कविता करने के कारण पंडित अनूप शर्मा का कुछ लोग आधुनिक रूपस्थ कहते हैं। वास्तव में उनकी अनेक रचनाएँ अपूर्ण प्रोत्थिनी हुई हैं। पंडित गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' संस्कृत के विद्वान् और हिंदी के अच्छे कवि हैं। उन्हें गुनगती और वैजना की कविता पुस्तकों के अनुवाद में अच्छी उपलब्धता मिली है। गुप्तजी की कविताओं में व्याकरण के नियमों की अच्छी रक्षा हुई। पंडित रामचरित उपाध्याय और पंडित लालनमोहन पंडित का व्यापक महावीरप्रसाद द्विवेदीजी से प्रोत्साहन लेकर कवि बनाया था। उपाध्यायजी की रामचरित-वितामसि अपने ढंग की सुंदर पुस्तक है। पंडितजी की छोटी छोटी रचनाएँ अच्छी हुई हैं। ठाकुर गोपालशरण सिंह 'सरस्वती' और द्विवेदीजी की छाया में ही बढ़कर कवि हुए हैं। 'माधवी' में उनकी कुछ रचनाएँ अच्छी हुई हैं। भीमवी सुमता-कुमारी निरुचय ही इस समय की सबसे अच्छी महिला कवि हैं। उनकी रचनाएँ सरल और सजीव होती हैं। उनमें सुकुमार, उदिरना

पूरा भावों की न्यूनता नहीं होती। इन कवियों के अतिरिक्त स्वर्गीय पंडित मधन द्विवेदी और पंडित माखनलाल चतुर्वेदी आदि की कविताएँ भी महत्व रखती हैं। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की रचनाएँ पुरानी शैली और नवीन छायावादी शैली—दोनों के बीच की हैं। पुरानी शैली के विचार से उनकी कृतियाँ छायावाद लिए हुए होती हैं और छायावादी रचनाओं में वे सबसे अधिक सुलभी हुई होती हैं। भी वात्सल्य शर्मा 'नवीन' की कुछ रचनाएँ अच्छी हुई हैं।

छायावाद—हिंदी की काव्य-शास्त्र का सामान्य परिचय उमर दिया गया है। अब थोड़े समय से हिंदी कविता में रहस्यवाद या छायावाद की सृष्टि रही है। कुछ लोग रहस्यवाद या छायावाद का आध्यात्मिक कविता कहते हैं और पाश्चात्य देशों के उदाहरण द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि धर्मगुरुओं और ज्ञानियों ने ही रहस्यवाद की कविता की है। ह्युसैड के अनेक रहस्यवादी कवि साम्प्रदायिक कवियों की भाँसी में आबेंगे, क्योंकि उनकी कविता में लोकसामान्य भावों का समावेश नहीं है, विभिन्न संप्रदायों की विचार परंपरा के अनुसार उसकी रचना हुई है। परंतु रहस्यवाद की कविता साम्प्रदायिक आधार का महत्व छिप दिना भी मिली जा सकती है। ह्युसैड के प्लेटो, प्लारस के उमर गैयाम और भारत के जायसी आदि कवियों ने बहुत कुछ ऐसी ही कविता की है। यह टीका है कि उनकी काव्यगत अनुभूतियाँ सामान्य अनुभूतियाँ सन्निविष्ट हैं पर वे सत्य हैं, अतः उनमें स्वात्मपता पूरी भाषा में पाई जाती है। हिंदी के कवि जायसी ने प्रकृति के विविध रूपों में अनंत दिव्य और अनंत संयोग की आ कलक दिसलाई है उसका उद्गार रक्त अनुमते दिया था, कदल लड़ी संप्रदाय की किंबदंती के आधार पर वह व्यक्तित्व नहीं है। हिंदी की आधुनिक रहस्यवाद की कविता में काफी बहुत साम्प्रदायिकता अदृश्य हुई आई है। इस आधुनिक रहस्यवाद के उत्पादन में हिंदी कवियों का भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं से बहुत प्रेरणा मिली है। छायावाद की

खरफनेवाली बात उसके भावों की अप्रासादकता है। इस संसार के सब पार को जीवन है उसका रहस्य जान लेना सबके लिये सुगम नहीं है। दार्शनिक सिद्धांतों की अनुभूति भी सबका काम नहीं है। इस समय बहुत सी ऐसी रचनाएँ हो रही हैं जो इन दोषों से मुक्त नहीं करी जा सकती। पर इन सब बातों से निराश हमारे की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ स्वयं और नित्य होगा वह स्वाधीन रूप में बढ़ कर लेगा, अन्य सब बातें अपने आप ही नष्ट हो जाएंगी। समय के प्रभाव और विद्या के प्रसार से जब यह प्रभाव सर्वत्र प्रकाशितों में फैलने लगेगा तब हिंदी कविता का नया विकास बड़ा ही मनोरम होगा।

छायावाद के कवि—यहाँ पर पर यह देना भी बहुत आवश्यक जान पड़ता है कि हिंदी के रहस्यवादी कवियों में जिनकी मरणा होती है, वे सबके सब रहस्यवादी नहीं हैं। उनमें से कुछ ने तो रहस्यवाद की एक भी कविता नहीं लिखी। जैंगरेजी कीरिक कविता के ढंग पर रचना करनेवाले कितने ही नवीन कवि रहस्यवादी कहलाने लगे हैं। वास्तविक परंपरा के प्रवाद कुछ पहले से ही रहस्यवाद की रचनाएँ करने लगे थे। उनकी कविता में सूर्य कवियों का ढंग अधिकतर पाया जाता है, यद्यपि जैंगरेजी कविता की पंक्ति में उनमें कम नहीं है। प्रवादजी ने संस्कृत साहित्य का भी अच्छा अध्ययन किया है और उनकी कविता की माया संस्कृतप्रधान होती है। भारतीय अद्वैतवाद को लेकर काव्यध्वज ने आनेवाले कवियों में पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी द्वितीय हैं। उन्होंने तथा पंडित मुमिबानंदन पंत ने पश्चिमीय शैली का अधिक प्रभाव लिया और रवींद्रनाथ की भाँति वैष्णव कविता की भी सहायता ली है। वामू हिक इति से देखते हुए छायावादियों में भी मुमिबानंदन पंत की रचनाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके भावों की उड़ान बहुत ऊँची है। उनकी माया संस्कृत-बहुल होती है, परंतु यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि उनकी रचनाओं में लक्ष्मीनेत्री बहुत कुछ कोमल होकर आई है। पंडित भोजनशास्त्र महतो की रचनाओं में भी रहस्यवाद की छाप है। रवींद्रनाथ

का काव्य गुरु स्वीकार करनेवाले ये ही हैं, यद्यपि रसार्थ की कविता की भाँती बहुत नकल करने की है।

हिंदी कविता का भविष्य—अब तक की कविता का जो विश्व रूप ऊपर दिखा गया है, उससे यह तो प्रकट होता है कि कविता की अनेकजुनी प्रगति इस युग में हो रही है, पर साथ ही यह भी प्रकट होता है कि विशेष अतृप्त प्रियंस्थ महाकवियों का अभ्युदय अब तक नहीं हुआ है। यह युग हिंदी के सबसेमूल्य विकास का है। परिचर्याय रीतियों का प्रदूष इस युग की प्रधान विशेषता है। साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति हो रही है। फिर भी अब तक परिवर्तन का ही युग चल रहा है। परिवर्तन के युग में जीवन की महान् और विरहालीन भावनाओं का लेकर काव्य-रचना करना प्रायः असंभव होता है। साहित्यकारों का तत्त्व अब तक परिवर्तन की ओर से हटकर जीवन की ओर नहीं जाता, वह वह उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। परंतु इस समय देश की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति भी अच्छी नहीं है। प्रतिभावासी अनेक व्यक्ति साहित्य-क्षेत्र से अलग काम करते हैं। साहित्य अब तक जीवन की गहनता के बाहर का विपलाक नंदन-निर्दुःख बना हुआ है। इसलिये सच्चे कर्मनिष्ठ उस ओर से विरक्त रहते हैं। साहित्य के पिये यह दुःसाध्य की बात है। हम और फ्रांस के उत्कृष्ट साहित्यकार प्रपन्न क्रतियों के भीतर से उत्पन्न हुए थे, हमारा देखनेपास का अंदर से नहीं। भारत में भी क्रांति का पैग ही युग आया हुआ है। आशा की जाती है कि निरुद्ध भविष्य में ही इस तर्कसंगत इतलपल के बीच किसी निष्पाप्ता का उदय होगा जिससे हिंदी कविता की फलजल साधना होगी और जिससे अगिला भारतीय जन-भ्रातृत्व की भयमाग मिलेगा।

(६) आधुनिक काल—गद्य-प्रवाह

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता है जाड़ीबोली में गद्य का विकास । इस भाषा का इतिहास बड़ा ही रोचक है । यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इसके प्रचार की सीमा थी, बाहर इसका बहुत कम प्रचार था । पर जब मुसलमान इस देश में बस गए और उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब दिल्ली में मुसलमानी शासन का केंद्र होने के कारण विशेष रूप से उन्होंने उसी प्रदेश की भाषा छाद्दीबोली को अपनाया । यह काम एक दिन में नहीं हुआ । अरब, फारस और तुर्किस्तान से आए हुए विपद्दियों का यहाँवालों से बातचीत करने में पहले बड़ी कठिनाई होती थी । न वे उनकी सरसी धरती समझते थे और न वे इनकी हिंदी । पर बिना याम्यबहार के काम चलाना असंभव था, अतः दोनों ने दोनों के कुछ कुछ शब्द सीककर किसी प्रकार आदान प्रदान का मार्ग निकाला । यों मुसलमानों की उर्दू (छाबनी) में पहले परत एक लिपड़ी फकी जिसमें बाल आबाल सब छाद्दीबोली के थे, सिर्फ नामक आर्गंतुकों ने मिलाया । प्रारंभ में तो यह निरी बाबाक बोली थी, पर धीरे धीरे व्यवहार बढ़ने पर और मुसलमानों का यहाँ की भाषा के ढाँचे का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर इसका रूप कुछ स्थिर हो जाता । यहाँ पहले शुद्ध अशुद्ध बोलनेवालों से रही गलत बोलचाल के लिये शाहजहाँ को "शुद्धी एहीर इस्तुद्धी अशुद्धी गलतता स्मृत " का प्रचार करना पड़ा था, यहाँ अब इसकी कृपा से लोगों के मुँह से शुद्ध अशुद्ध न निकलकर सही गलत निकलता है । आश्चर्य है कि चाँदनी पड़े-लिले भी अपने नौकर से एक ग्लास पानी न माँगकर एक गिलास ही माँगत हैं, वैसे उस समय मुसलमान उम्बाराख और परतपर बोच-सौकर के अशुद्ध से वे लोग अपने

आयदक का उदयक कुतका का कातका कर लेने होते और स्वयं करते थे, एष व लेने करदमन मुनकर भी नहीं चौकते थे। ऐनयाही हिंदी, मुंइलसही हिंदी, देहिवाक हिंदी और बाबू हॉलिय की तरह यह उस समय उतू हिंदी कहलाती थी पर पीछे मंदक उतू शब्द स्वयं मेघ बनकर उसी प्रकार उस भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा जिस तरह संस्कृत बाब् के लिये वेदल संस्कृत शब्द। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति के प्रचार का सबसे बड़ा साधन मानकर इस भाषा को लूट उठाव दिया और जहाँ जहाँ वे फैलत गए, इस अपन साथ लते गए। उन्होंने इसमें फवल फारसी तथा फरबी के शब्दों की ही उनक शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी, बल्कि इसक व्याकरण पर भी फारसी भरती व्याकरण का रंग बढ़ाया। इस अपस्या में इसक दो रूप हो गए, एक तो हिंदी कहलाता रहा और दूसरा उतू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित शब्दों के ग्रहण करके, पर व्याकरण का संपदन हिंदी के ही अनुसार रखकर, ब्रॉगरेजी ने इसका एक तीसरा रूप हिंदुस्तानी बनाया। अतएव इस समय वर्गीभाषा के तीन रूप बरमान हैं—(१) शुद्ध हिंदी या हिंदुओ की साहित्यिक भाषा है और जिसका प्रचार हिंदुओ में है, (२) उतू जिसका प्रचार विशिष्टकर मुसलमानों में है और जो उनक साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिंदुओ की घर के बाहर का बालबाल का भाषा है और (३) हिंदुस्तानी जिसमें साधारणतः हिंदी उतू दोनों के शब्द प्रयुक्त हुए हैं और जिसका बहुत से लोग बालबाल में व्यवहार करते हैं। इसमें अमी साहित्य की रचना बहुत कम हुई है। इस तीसरें रूप के मूल में राजनीतिक कारण हैं।

अमदरा हिंदी में वर्गीभाषा रूप के जन्मगाता सस्त्रुही साल माने जाते हैं। यह अम उन ब्रॉगरेजी के कारण बना है जो अमने घाने के पाल गये का अस्तित्व हिंदी में स्वीकृति नहीं कराने। अकर बादशाह के यहाँ सन् १६२० के

या। उनमें १५६२

संयुक्त वर्गों की महिमा लखीबाड़ी के गद्य में लिखी है। उसके पहले का कोई प्रामाणिक गद्य-लेख न मिलने के कारण उसे लखीबाड़ी का प्रथम गद्य-लेखक मानना चाहिए। संवत् १९८० में बटमन में राज रमानी पक्षा में "गौरा बाबल री बात" लिखी थी, उसका अनुवाद संवत् १९८१ में किसी ने इसी भाषा के तत्कालीन गद्य में किया है। लखनऊ की लाल हिंदी की आधुनिक रूप देनेवाले भी नहीं हैं। उनके और पहले का मुंशी सदासुख का किया हुआ मायबत का हिंदी सदासुख 'सुखसागर' वर्तमान है। इसके अनंतर ईशानदास, लखनऊ की लाल तथा सरल मिश्र का समय आता है। ईशानदास की रचना में शुद्ध वज्र शब्दों का प्रयोग है। उनकी भाषा सरल और सुंदर है, पर वाक्यों की रचना ठरुं डंग की है। इसी लिये कुछ लोग उसे हिंदी का नमूना न मानकर ठरुं का पुराना नमूना मानते हैं। लखनऊ की लाल के 'प्रियसागर' से सरल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा अधिक पुष्ट और सुंदर है। 'प्रियसागर' में मिश्र मिश्र प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करिके, कुलाय, कुलाय करि, कुलाय करिके, कुलायकर आदि अनेक रूप अविकृता से मिलते हैं। सरल मिश्र में यह बात नहीं है। कारण यह कि यद्यपि जेम्स विलियम कार्ल के अधिकारियों, विशेषकर डाक्टर गिलमिस्ट की कृपा से हिंदी गद्य का प्रचार बढ़ा और उसका भाषी भाग प्रसन्न तथा सुखस्थित हो गया, पर लखनऊ की लाल उसके बन्धवादा नहीं थे। बिना प्रकार सुखलानों की कृपा से हिंदी का प्रचार और प्रसार बढ़ा उसी प्रकार अँगरेजों की कृपा से हिंदी गद्य का इस परिमार्जित और स्थिर होकर हिंदी-साहित्य में एक नया युग उपस्थित करने का मूल आधार अथवा प्रधान कारण हुआ।

उपर्युक्त चार लेखकों ने हिंदी की पहले-पहल प्रतिष्ठा की और उनके प्रयत्न-रचना की चेष्टा की। इनमें मुंशी सदासुख और सरल मिश्र की भाषा अधिक उपयुक्त ठहरती है। इनमें सदासुख का अधिक सम्मान

मिलना चाहिये, क्योंकि ये कुछ पहले भी हुए और इनहने कुछ अधिक साधु भाषा का व्यवहार भी किया। इनके उपरांत विदेशों से आई हुई प्रिन्सिपल मठ का प्रचार करनेवाली जगतस्थाओं जयबा मिशना ने हिंदी में अपने कुछ धर्म-ग्रंथों, विशेषकर बाइबिल, का अनुवाद किया। बाइबिल का अनुवाद भाषा की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। यह देश के विरतुत मू माग में पड़ी हुई लड़खोली की सामान्यतः साधु भाषा में किया गया है। शासक वर्गों ने मुसलमानों की उर्दू को कचहरियों में जगह दी थी, पर धर्म-प्रचारक मिशनरी यह मंती मंति जानते थे कि उर्दू पढ़ाई के जन-समाज की भाषा कदापि नहीं। इसी लिये बाइबिल का अनुवाद शुद्ध हिंदी में हुआ था। उर्दूफन उससे बहुत दूर रखा गया। उसकी भाषा का रूप सवानुक्त लस्लूजी साध की ही मंति है, पर बिदेशीय रचना शैली के कारण थोड़ा-बहुत अंतर व्यवस्थित हो पड़ता है। लस्लूजी लाल के भाषा में मंत्र की बोली मिली हुई है, पर उपर्युक्त अनुवाद ग्रंथों में उसका बदिल्कार कर मानो लड़खोली के आगमी प्रकार की पूर लुपना मा दी गई है। जब ईसाइया की धर्म पुस्तकें निकल रही थीं तब छापने की कल इस देश में आ चुकी थी, स्थिर पुस्तकों के प्रचार में बड़ी सहायता मिली।

छापेखानों के पैदा होने पर हिंदी की पुस्तकें सीमितता से बढ़ पड़ीं। इसी समय सरकारी स्कूलों में लुके और इनमें हिंदी उर्दू का व्यवहार बढ़ा दिया गया। मुसलमानों की आर स सरकार का यह समझा गया कि उर्दू को छाड़कर बूसरी भाषा समुक्त मात में है ही मही। कचहरियों में उर्दू का प्रभाव दृष्टा है, महरनों में यो होना चाहिये। परंतु मध्य का निरस्कार बहुत दिनों तक मही किया जा करता। देपनागरी लिपि की भरलता और उसका देशध्यायी प्रकार जंगरेजों की दृष्टि में आ चुका था। लिपि के बिचार से उर्दू की प्रिण्टा और अनुसुतना भी आगों के सामने आती जा रही थी। परंतु नीति के लिये सब कुछ दिया जा करता है। जंगरेज समझकर भी नहीं

सम्मना चाहते थे। इसी समय मुल्तांत में स्कूलों के इंस्पेक्टर हिंदी के पबपासी काशी के राजा सिधमसाह नियुक्त किए गए। राजा साहब के प्रयत्न से दूबनागरी लिपि खोकार की गई और स्कूलों में हिंदी का स्थान मिला। राजा साहब ने अपने अनेक परिचित मित्रों से पुस्तकें लिखवाई और स्वयं भी लिखीं। उनकी लिखी कुछ अच्छी हिंदी मिलती है पर अधिकांश में उर्दू प्रधान भाषा है। उनसे मिली। ऐसा उन्होंने समय और नीति का बलते हुए अच्छा ही किया।

उनकी रची हुई पुस्तकों की नामावली यह है—बधमाता, रास रास, बिद्याकुट, बामाभनरंजन, हिंदी व्याकरण, भूगोल इत्यादि, छोटा इत्यादि भूगोल, इतिहास-तिमिर-नाटक, गुल्फा, मानव वर्तमान, सैडफोर्ड ऐंड माउन्ट, सिलों का उदय और अस्त, स्वर्गोदय उर्दू, बौद्धों की अक्षरों के सीतल का उपाय, राजा मोन का सपना और बीरविह का वृत्तांत। इन ग्रंथों में से कई संग्रहमात्र हैं और अधिकतर राजा साहब के ही बनाए हैं। राजा साहब की भाषा वर्तमान भाषा से बहुत मिलती है, केवल यह साधारण बोलचाल की ओर अधिक फुलती है और उसमें उर्दू शब्दों का भी कुछ आधिक्य है। उन्होंने कुछ छंद भी बनाए हैं पर विशेषतया गद्य ही लिखा है। वे जैनधर्मावलंबी थे। इनका जन्म वर्ष १८८८ में और स्वर्गवात १९५२ में हुआ।

इसी समय क लगभग हिंदी में संस्कृत क शकुंतला नाटक आदि का अनुवाद करनेवाले राजा लक्ष्मणविह हुए। वे आगरा के रहनेवाले थे। इनका कविता-काल वर्ष १९१९ के इतर ठहर है। वे वर्ष १९१३ में डेपुटी फोरेस्टर नियुक्त हुए और १९४९ में इन्हें पदोन्नति मिली। वर्ष १९२७ में सरकार से इन्हें राजा की पक्षी राजमणि के कारखाने में इत्यादि। इनका जन्म वर्ष १८८३ में हुआ और १९५६ में इनका स्वर्गवात हुआ। राजा साहब ने पहले पदोन्नति लक्ष्मणविह में काशिदास-दत्त 'शकुंतला नाटक' का अनुवाद गद्य में करके वर्ष १९१६ में प्रकाशित

झ्या। इस पुस्तक का हिंदी रसिकों में बहुत बड़ा सम्मान हुआ। संवत् १९१२ क विज्ञानरत्न के प्रसिद्ध हिंदी प्रेमी फ्रेडरिक गिनकार्ट महाशय । इसे ईंग्लिस्तान में छपवाया। इस पुस्तक का ईंग्लैंड में वहाँ तक प्रचार मिला कि यह इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा पुस्तकों में सम्मिलित की गई। संवत् १९१४ में राजा साहय नेरुनंग का अनुवाद गद्य में मूल श्लोकों के साथ प्रकाशित किया। यह एक बहुत बड़ी पुस्तक है। संवत् १९३८ में इन महाशय ने प्रसिद्ध मधुसूत के पूर्वार्द्ध का पद्यानुवाद छप्पाया और संवत् १९४० में उसके उत्तरार्द्ध का भी अनुवाद प्रकाशित करके प्रथम पूर्ण कर दिया। यह प्रथम चौपाई, दाहा छंटा, सेलरिखी, लवैया, छप्पै, कुंडलिया और बनावरी छप्पा म बनाया गया है, जिनमें लवैया और बनावरी प्रायः अधिक हैं। इन्होंने दाहा, छंटा और चौपाइयों में वृत्तहीनता की मापा रती है और शेष छंदों में मजमापा। इनके गद्य में भी दो-चार स्थानों पर मजमापा मिल गई है, परंतु उसकी मात्रा बहुत ही कम है। इनकी मात्रा मधुर एवं निरक्षर है। वर्तमान हिंदी-भाषा का प्रचार जब तक भारतवर्ष में रहेगा तब तक विद्वन्मंडली में राजा साहय का नाम बड़े आदर के साथ लिया जायगा।

गद्य के क्षेत्र में भारतेंदु और उनके समकालीन—

भारतेंदु हरिश्चंद्र क काबजेन में आत ही हिंदी में समुद्रति का बुग आया। तब तक सा लड़ीवाली गद्य का विकास होता रहा और पाठशालाओं के उपयुक्त छोटी छोटी पुस्तकें लिखी जाती रहीं पर अब साहित्य क अनेक अंगों पर प्रकाश दिया गया और उनमें पुस्तक-रचना का प्रयत्न किया गया। भारतेंदु ने अपने बंगाल-भ्रमण के उत्तरांत बंगाल के नाटकों का अनुवाद किया और मीसिक नाटकों की रचना की। कविता में देश प्रेम क भावों का प्राबुध्वा हुआ। पद्य-पत्रिकाएँ निकलीं 'हरिश्चंद्र मैगजीन' और 'हरिश्चंद्र पत्रिका' भारतेंदुजी के पद्य छान्द निबंध भी लिख जाये लगे। उनके निरामेयानों में

अतिरिक्त पंडित बालकृष्ण मठ, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पंडित करी-
नाथयश चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह आदि थे।

महन्ती का जन्म संवत् १८०१ में प्रयाग में हुआ था वे संस्कृत के
अष्टमे विद्वान् और भाषा के एक परम प्राचीन लेखक हैं। संवत् १८१४
में प्रयाग से हिंदी-महन्ती नामक एक सुंदर मासिक पत्र प्रयाग १२ वर्ष तक
निकलता रहा। महन्ती उसका सदैव संपादक रहे। इनकी गद्य-लेखन
पटुता एवं गंभीरता कबचोमावेन सराहनीय है। कलियुग की घमा, रेल
का विकट लेख, बाल विवाह नाटक, लो अमान का एक दुबान, नून
ब्रह्मचारी, आदि लेख इनके चमत्कारिक हैं। पञ्चावली, धर्मिणा और
चरित्रेन नामक उत्तम नाटक-संग्रह भी महन्ती ने रचे हैं। नाटककारों में
भीनिवासदास और राधा-कृष्णदास का नाम उल्लेख योग्य है।
'परीक्षागुरु' नामक एक अष्टाक्षर उपन्यास भी उस समय लिखा गया।
आयुधमात्र के काव्य काव्यांशों में स्वामी रघुनंद के उपनाम सबसे प्रसिद्ध
पंडित भीमसेन शुर्मा हुए, जिन्होंने आयुधमात्र का अष्टाक्षर साहित्य रचकर
लिखा। पंडित अजिंक्यदास व्यास भी उस काल के मौलिक लेखकों में से
थे। अकबरनबीला में बाबू बालकृष्ण गुप्त सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए।

गुरुजी का जन्म संवत् १८२२ में रोहतक जिले में हुआ था इनका
हिंदी लेखन से सदैव बड़ी रुचि थी और इन्होंने पत्रों के संपादन से ही
अपनी जीविका भी चलाई। आपने छठ वर्ष बगवासी का संपादन किया
और फिर भारतमित्र के आप जीवन पर्यंत संपादक रहे। अपने रचनाक्षेत्र
नाटिका, इतिहास, शिबसंग्रह का चिह्न, स्फुट कविता, सेहना आदि
पुस्तकें भी रची। इनकी गद्य और पद्य रचनाओं में मन्नाक की भाषा
बहुत खूबी थी और वे बड़ी मनोरंजक होती थी। होली क संवत् में वे देव
आदि लूच मार्के के बनाते थे। इनका शिबसंग्रह का चिह्न एक बड़ा ही
लोकप्रिय संग्रह है। इनका स्वर्गवास संवत् १८९४ में हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गद्य के विभिन्न अंगों का लेकर बड़े
ही उत्साहपूर्वक उनमें मौलिक रचनाएँ करनेवाले हिंदी के वे उपाधक

बड़े ही शुभ अवसर पर उद्भव हुए थे। उनकी वाणी में हिंदी का बाल्यकाल की कसम है, पर यौवनागम की सूचना भी मिलती है। देश प्रेम और जाति प्रेम की भावनाओं का लेकर साहित्य-क्षेत्र में आने का कारण इन सबकी स्थितियाँ हिंदी में अपने दंग की अनसुनी हुई हैं।

भारतेंदु की नाटक-रचना शैली में भारतीय शैली और पारश्चात्य शैली का सम्मिश्रण हुआ है। भारतीय शैली के अंश और गमाओं तथा विच्छेदक आदि को बदलकर वैंगला क दंग पर अंक और दृश्य की परिपाटी बनी, पर संस्कृत के सूत्रपाद, नटी, प्रस्तावना आदि भागों के लो बने रहे। परिभा का चित्रण करने में भारतेंदु ने संस्कृत के व्योमकारणों का अनुसरण किया पाशों की वैयक्तिक विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं दिया। यद्यपि उनका अनेक नाटक अनुवादित नाटक हैं और उनके मौलिक अभिरूपा नाटकों में भी कथानक का निमास उन्हें नहीं करना पड़ा है, पर कुछ नाटकों में उन्होंने अपनी कथानक का उष आदरा विरताया गया है। अन्य नाटकों में प्रेम की परिभा पाया बहो है। भारतेंदुर्दशा में स्वदेशानुगत समक उठा है। भारतेंदु की परिभाषित गद्य शैली का व्यवहार उनके सभी नाटकों में देल पड़ा है। हाँ विषय और प्रसंग के अनुसार भाषा तरल अवका जगित हो गई है। लाला भोनिबाउशास के 'रघुपीर प्रेममोहिनी', 'संयमिता स्वयंवर' आदि नाटक तथा बाबू राधाकृष्णदास का 'महा राधा प्रताप' नाटक साहित्यिक दृष्टि से अच्छे हैं, यद्यपि रगशास्त्र के उपयुक्त नहीं। प्रेमपत्रिका का 'भारतजीभाष्य' नाटक भी अच्छा है, पर बहुत बड़ा हो गया है। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का 'अक्षता भावुकुमार नाटक गद्य काव्य की शैली में लिखी गई सुंदर कृति है।

नागरी-मचारिणी समा और सरस्वती—हिंदी-साहित्य का एक विधात बड़ा ही आशाप्रद और उत्साह-वदक था। जोड़े लम्ब

यह साहित्यिक प्रगति उस काल के मनोबोध और कृतिशीलता की परिचायक हुई है। इस काल के उपर्युक्त साहित्य के सभी धर्मों की बड़ी सुंदर उन्नति हो गयी और अनेक क्षेत्र में अपने अपने क्षेत्रों का प्रभुत्व हुआ।

१९वीं शताब्दी के अंतिम दशक में साहित्य के औमात्र से हो ऐसी बातें हुईं जिनसे हिंदी-साहित्य की अभिवृद्धि में बड़ी सहायता पहुँची। इनमें से प्रथम है काशी की 'नागरी-प्रचारिणी सभा' की स्थापना और द्वितीय है प्रयाग से 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का प्रकाशन।

सन् १८५० में काशी के उत्साही साहित्यिकों ने, जिनमें राम बहादुर श्यामसुंदरदास प्रमुख हैं, नागरी-प्रचारिणी सभा को जन्म दिया। सभा का उद्देश्य नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा का प्रचार, प्रसार तथा उन्नति करना था। सभा अपने सद्देश्य में पूर्ण सफल हुई और उसने हिंदी भाषा और साहित्य की जो सेवा की उस पर किसी भी संस्था को गौरव हो सकता है। सभा ने संयुक्त प्रांत के न्यायालयों में हिंदी को स्थान दिलाया, हिंदी के प्राचीन ग्रंथों का अनुसंधान करके उन्हें प्रकाशित कराया, पारितोषिक देकर उच्च कोटि के साहित्य-प्रकाशन को प्रोत्साहन प्रदान किया, हिंदी में मित्रान-संबंधी शब्दों की रचना करके "हिंदी वैज्ञानिक कोश" निर्माण कराया और "हिंदी-शब्दकोश" के लक्षण वृद्ध और महत्वपूर्ण शब्दकोश बनवाकर प्रकाशित किया। इस प्रकार हिंदी-साहित्य क्षेत्र के निर्माण का बहुत कुछ प्रारंभिक कार्य इसी सभा के द्वारा हुआ है। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के प्राबल राम बहादुर श्यामसुंदरदास थे। उनमें संगठन कर्म और संस्था का सुचारु रूप से संचालन करने की अपूर्व क्षमता थी। वे लोगों से काम लेना बुरा मानते थे। अतः नागरी-प्रचारिणी सभा की सफलता का प्रायः संपूर्ण श्रेय बाबू ठाकुर ही को प्राप्त था। इस हेतु हिंदी-जगत बाबू ठाकुर का धिर झुकी और कृतक रहेगा। नागरी-प्रचारिणी सभा के विद्यालय कार्य क्षेत्र के अतिरिक्त बाबू श्यामसुंदरदास ने प्रचलन के क्षेत्र में भी

महत्त्वपूर्ण ही नहीं मुगमर्तक कार्य किया है और हिंदी के अनेक रिले
अंगों की पूर्ति की है। कासेगो की उष कक्षाओं के उपसुछ प्रयोगों के
निर्वात अभाव का बाबू साहब को उस समय अनुमय हुआ था जब वे
पहले पहल काशी विश्वविद्यालय में हिंदी-विभाग की स्थापना करने और
हिंदी शिक्षा का कार्यक्रम बनाने के लिये पूरव माताजीपजी द्वारा बुलाए
गए थे। सर्वप्रथम बाबू साहब ने ही समझा कि प्रचलित बाहबाही समा
लोचनाओं से काम न चलेगा, इसलिये उन्होंने 'साहित्यालोचन' लिख
कर आलोचना-संबंधी संमोर विद्वाता को अच्छी तरह समझाया।
साहित्यालोचन में पश्चिम और पूर्व के साहित्य-सम्बन्ध का मार्मिक और
मुलनात्मक विवरण किया गया है। इन्हीं विद्वाता का व्यावहारिक रूप
दिल्लीत हुय बाबू साहब ने हिंदी कवियों पर आलोचनात्मक निबंध
लिखे जिनमें 'मारतेंडु हरिचंद्र' और 'मुलसीरास की जीवनी' मुख्य
हैं। साहित्यिक आलोचना के उन्ही विद्वाता का और अधिक स्पष्ट
करते हुय आपने 'हिंदी भाषा और साहित्य' नाम का एक आदरणीय
प्रयत्न जो डाक्टर गियर्सन जैसे भाषाशास्त्रियों द्वारा प्रभावित और
आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा पुरस्कृत हुआ। साहित्य
के क्षेत्र में ही नहीं भाषा के क्षेत्र में भी आपने महत्त्वपूर्ण अनुसंधान
की नींव डाली थी जिसका निवर्तन आपका 'भाषा विज्ञान' नामक प्रय
है। इस प्रकार उष भेषी के पाठकों और निचारियों के उपसुछ प्रय
रचना का प्राथमिक कार्य आपने ही किया और अतः आप ही इस
क्षेत्र के सर्वप्रमुख व्यक्ति थे। प्रसन्नता की बात है कि आरम्भिक स्तराई
शिक्षा में काम करनेवाले अनेक विद्वान् इस समय हिंदी में वतमान हैं
जिन्हें आप अपनी रचनाओं से तथा व्यक्तिगत रीति से भी प्रेरणा करते
रहते थे। काशी विश्वविद्यालय हिंदी-शिक्षा का प्रधान केंद्र हो रहा है
और वहाँ से शिक्षा प्राप्त अनेक मनुष्यक हिंदी के क्षेत्र में गौरवपूर्ण
कार्य कर रहे हैं। इसका आधिकारिक भेष बाबू साहब को ही प्राप्त है।
संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने

‘सरस्वती’ द्वारा ‘भाषा-संस्कार’ का जैसा सुगपरिवर्तन-कारी उद्योग किया, वैसा ही उद्योग वाणू साहब ने ‘साहित्यसंस्कार’ का किया और ये ही दोनों महानुभाव यद्यमान हिंदी-साहित्य की सबसे उज्ज्वल तथा भेष-कारिणी विभूतियाँ हैं। नागरी प्रचारिणी सभा ने अपने यहाँ ‘भारत-कला-भवन’ खोलकर भारत की प्राचीन कला-सामग्री की रक्षा का भी स्तुत्य प्रयत्न किया है, जिसका भेष राय कृष्णदास को है। सभा ‘नागरी प्रचारिणी पत्रिका’ नाम की एक पुरातन सौत्र-विषयक प्रामाणिक पत्रिका भी निकालती है, जिसका विहर्नमंडली में अनुचित सम्मान है।

जिस समय प्रयाग की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका ‘सरस्वती’ का जन्म हुआ उस समय हिंदी में उस कोटि की विशुद्ध साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रायः सर्वथा अभाव था। संपादक्यवर पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी के संपादकत्व में ‘सरस्वती’ ने हिंदी-साहित्य की प्रगति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। उस समय काङ्ग्रेसोत्थी हिंदी-गद्य की सर्वमान्य रूपों और पद्य की आंशिक रूप से माया बन चुकी थी, परंतु अभी तक उसके संस्कार का प्रयत्न प्रारंभ नहीं हुआ था। द्विवेदीजी के समान व्याकरणविद् और प्रामाणिक विद्वान् के हाथों में जाकर ‘सरस्वती’ ने भाषा-संस्कार का महान् कार्य संपादन किया। वह पहले ही कहा था चुका है कि बी द्विवेदीजी ने लड़ीलोली को हिंदी-पद्य में प्रतिष्ठित करने में कितना अधिक कार्य किया है। परंतु हिंदी-गद्य की माया को भी परिमार्जित करने का गौरवमय भेष भी बी द्विवेदीजी को ही है। उन्होंने माया को काट-छांटकर सुसंस्कृत बनाया, व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा की, ऐक्यो नवीन शेषकों का प्रोत्साहन दिया और पारंपरिक सम्प्रदाय के प्रेमी ऐक्यो नवयुवकों को बौंगरेजी की ओर से हटाकर हिंदी की ओर आकर्षित किया। हिंदी-साहित्य के अनेकों वर्तमान सुप्रसिद्ध शेषक और कवि ‘सरस्वती’ की ही गोद में फलकर बड़े हुए। उन्होंने द्विवेदीजी से ही साहित्य की प्रथम बीजा प्रशस की थी। द्विवेदीजी कई

लेखन शैली मध्यम श्रेणी की है। उसमें न तो संस्कृत शब्दों का बाहुबल होता है और न उर्दू शब्दों की प्रचुरता। उनकी भाषा संस्कृत-मिश्रित होती है, परन्तु उसमें आपस्यकृतानुसार उर्दू शब्दों का भी उपयोगित समावेश होता है।

इस प्रकार काशी नागरी-प्रचारिणी मण्डल की स्थापना और 'सर स्वती' पत्रिका के प्रकाशन से हिंदी-गद्य की उत्पत्ति का पर्याप्त प्रस्तावना प्राप्त हुआ। भाषा में प्रौढ़ता आई, वह सामान्यपटी हुई और उसमें अनेक सुंदर शक्तियों का आविर्भाव हुआ। जिस प्रकार उद में लखनऊ और देहली के दो केंद्रों की विभिन्न शैलियाँ हैं उस प्रकार हिंदी में स्थान भेद के अनुसार शैली भेद तो नहीं हुआ पर कितनी ही व्यक्तिगत शैलीयाँ उत्पन्न हुई, जो आगे चलकर बयबज शैलियाँ बन गईं और इधर उधर मूल छिड़कर कुछ स्थानों पर का छटकी, जिनसे स्थान भेद का उपक्रम प्रारंभ हो गया। इस समय स्थूल रूप से तीन भिन्न स्थानों में तीन भिन्न शैलियों के रूप स्पष्टता दी जाते हैं। काशी के अधिकांश लेखक संस्कृत बहुल भाषा का प्रयोग करते हैं। देहली की ओर के लेखक-गण अपनी भाषा में उर्दू शब्दों के सामान्य शब्दों का स्वतंत्रता पूर्वक व्यवहार करते हैं। लखनऊ और कानपुर के साहित्यिकों पर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा, अतः उन्होंने मध्य मार्ग का अवलंबन किया। उनकी भाषा में संस्कृत शब्द होते हैं परन्तु उर्दू शब्दों का भी यथानिष्ठ समावेश रहता है। वह शर्ला अन्य शैलियों की अपेक्षा अधिक लाक्षणिक हुई है। इसके अनिश्चित हास्य विना, बहुत मुहावता, व्यंग, व्यामोह, व्यंग, उल्लास, कहानी आदि विभिन्न विषयों के उपयुक्त कितनी ही शैलियों का प्राबल्य हुआ है और हा रहा है। बहुत सी मूलतः कथकल में प्रचलित शैलियों से करने की समझ भाषा में उपरिष्ठ है। वर में अल्प शिक्षा का माध्यम अंगरेजी है। आबकल अंगरेजी के उपर्य शिक्षा-प्राप्त होने—

विद्वान् हिंदी की ओर मुक्त रहे हैं, जिसके कारण माया पर अँगरेजी रचना-प्रणाली का विशेष प्रभाव कदाचित् आवश्यकता से अधिक पड़ रहा है। न केवल अँगरेजी के सहस्रो शब्द अनुवादित होकर हिंदी के शब्द-सागर में प्रवेश कर रहे हैं, बल्कि अँगरेजी पद-निम्बास तक की भाषा हिंदी में दृष्टिगोचर होने लगी है। इस प्रकार हिंदी में कितनी ही शैलियों का विकास हुआ और हो रहा है। मासिक पत्रिकाओं के निकलने से साप्ताहिक साहित्य की अच्छी भीमृति हुई। राजनीति के आंदोलन के फल-स्वरूप हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का उद्योग किया जा रहा है। राजनीतिक आंदोलन और शिक्षा की उन्नति के साथ ही पत्र-पत्रिकाएँ बढ़ती जा रही हैं। साहित्य के सब अंग मर रहे हैं। विद्य विद्यालयों में हिंदी उच्चतम कक्षाओं में पढ़ाई जाने लगी है। विविध विषयों की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं।

समालोचना—भारतवर्ष हरिचंद्र के समय से ही साहित्यिक समालोचना होम लगी थी, पर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय से उसका स्वरूप निश्चित हुआ। द्विवेदीजी की समालोचनाएँ अधिक कांक्षित्वपूर्ण होती थीं। सरस्वती में पुस्तकों की भी और संस्कृत तथा हिंदी के कुछ कवियों की भी द्विवेदीजी ने समालोचनाएँ लिखीं। द्विवेदीजी की बलाई हुई पुस्तक समीक्षा की संक्षिप्त प्रणाली का अनुसरण अब एक मासिक पत्रिकाओं में हो रहा है। द्विवेदीजी की समालोचनाएँ माया की गड़बड़ी को दूर करने में बहुत सहायक हुईं, साथ ही आलोचना में संयत होकर लिखने का ढंग भी प्रतिष्ठित हुआ। द्विवेदीजी के समकालीन समालोचकों में मिथवरभूषों का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनका हिंदी-साहित्य का इतिहास-ग्रंथ अपने ढंग की पहली रचना होने के कारण बड़ी बहुमूल्य बरत हुई। “हिंदी-नवरत्न” में कवियों की समालोचना का स्रपात हुआ। उनकी आलोचनाओं के संबंध में विद्वानों में मतभेद हो सकता है और है भी, पर समालोचना का कार्य आरंभ करने के कारण मिथवरभूषों का हिंदी-साहित्य पर

शृणु है और उसे स्वीकार न करना कृतमत्ता माना जायगा। इस बात का बिना ध्यान रखे कि तब बाता में नमिक विकास होता है, पूर्व कृतियों का गुच्छ मानना जहाँ अनुचित है वहाँ इस बात का भी ध्यान रहना चाहिए कि हमारे ज्ञान तथा अनुभव की वृद्धि निरंतर होती रहती है, इसलिये साहित्य के विचारधियों समालोचक तथा निमाताओं का अपने अपने मतों को केवलान्वय मान बैठना, महाविप्लव तथ्यों की अक्षरेक्षण करना तथा मिथ मठ रखनेवालों को ऐसे समझना साहित्य के मावी विकास और उन्नति के लिये दितकर न सिद्ध होगा।

हिंदी के कविता पर आलाचनात्मक लेख और पुस्तक लिखनेवालों में पंडित पद्मसिंह शर्मा और पण्डित कृष्णविहारी मिश्र के नाम उल्लेख किये हैं। हिंदी में तुलनात्मक आलाचना शली का आविष्कार पंडित पद्मसिंह शर्मा ने किया था। वह बलुन एक नई चीज थी। पंडित कृष्णविहारी मिश्र ने इस विषय का आगे बढ़ाया है। शर्माजी की शली का अनुकरण अन्य लोगों ने न किया हा यह दूसरी बात है, परंतु वह शली एक हा रही है। शर्माजी की माया ठई मिश्रित और सुदीर्घ होती है। मिश्रजी की माया सरल और गंभीर है।

अगरेजी दग की गंभीर आलाचनाएँ लिखनेवालों में राय दरारदुर श्यामनन्तराज और पंडित रामचंद्र शुक्ल प्रमुख हैं। समालोचना संबंधी विदाओं का निकषण करन और हिंदी माया के स्वरूप से परिचय कराने में दाबू साहब का खल्व उद्योग था। जायसी, तुलसी, छूर आदि कविता पर शुक्लजी के निबंध सुंदर विरलेपशात्मक आलोचना के रूप में बिग गए हैं, जिनसे कवियों के मानसिक और कलात्मक विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। निबन्धियालया की उच्छ भण्डिया में फ़ाई जाम धमन समालोचनाओं में शुक्लजी की समालोचनाएँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण हुई हैं। दाबू साहब का 'हिंदी माया और गानित्य' हिंदी के इतिहास की सबसे प्रामाणिक, विद्वत्पूर्ण और निष्पक्ष कृति है। दाबू अनुमलाल बाग्यी ने भी दा-एक समालोचनात्मक पुस्तकें

लिखकर हिंदी के विकास-क्रम को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। मासिक पत्रिकाओं में समावाचनार्थ लिखने का रंग अधिक उपयुक्त और प्रशंसनीय होता जा रहा है। परसे की अपेक्षा व्यक्तिगत भावों की बहुत कुछ कमी हो गई है। कदाचित् यह कह देना अनुचित न होगा कि समावाचन का काम बहुत महत्वपूर्ण है और उस सचेष्टता पूर्वक करना सबका काम नहीं है।

नोट—अन्य सभी साहित्यों में नाटकों का विवेचन रंगशास्त्र के नियमों, प्रतिबंधों आदि को लेकर होता है। जर्मनी के अनेक विद्वान् समालोचक तो रंगशास्त्र के अनुपयुक्त नाटकों को नाटक कहते ही नहीं। उन देशों में रंगशास्त्रार्थ बहुत अधिक विकसित हो चुकी है और प्रत्येक नाटककार उनके नवीनतम विकास से परिचित होना आवश्यक समझता है। नवीन विकास के कारण जो पुरानी नाटकीय रचनाएँ आधुनिक रंगमंच के अनुपयुक्त हो गई हैं, अबका सिक्की हुई रेश पड़ने लगी हैं, उनको निम्न स्थान दिया जाता है। स्वयं शेक्सपियर के नाटक भी रंगमंच की दृष्टि से पुराने हो गए हैं अतः कम सेते जाते हैं, अबका सुधारकर सेते जाते हैं। हिंदी के लिये यह बड़ी सजा की बात है कि अब तक यह पारसी रंगमंच के ही हाथों में पड़ी हुई है, उसकी अपनी रंगशास्त्रार्थ या तो हैं ही नहीं अबका सुधक सी है। व्यावसायिक रंगमंच तो हिंदी में कदाचित् एक भी नहीं। हम श्रेष्ठ अब तक नाटक खेलने की नदी का शुद्ध काम समझते हैं। अनेक आधुनिक नाटककार पर पर कल्पना के द्वारा नाटकीय प्रतिबंधों पर विचार करते हैं, रंगशास्त्राओं में जाकर नाटक देखकर या सेतकर अपने अनुभव की वृद्धि नहीं कर पाते। पारसी रंगमंच अपने पुराने अकनुषों को लिए हुए चला जा रहा है। बही अलफरखानिक्य, अस्वामासिक भाषा और बही अस्वामासिक मापक। हिंदी की या दो एक नाटक-मंडलियाँ हैं, वे तियि-स्वाहायी पर कुछ सेत सेतकर ही संतोष कर लेती हैं। यह स्थिति बही ही सोचनीय है। बेंगला, मराठी,

मुम्बयी आदि भाषाओं के रंगमंच विशेष उन्नत हैं और प्रतिदिन उदघाटित करते जाते हैं। ऐसी आवश्यकता से राष्ट्रभाषा हिंदी पर गर्व करने वालों का मस्तक खण्डन नाचा हुआ है। हिंदी-भाषी खंडों को चाहिए कि मयासंभव शीघ्र माटक-मंडलियाँ का सहायता दें और हिंदी-भाषी विद्वानों को चाहिए कि वे मयासंभव शीघ्र अधिनय-काय को अपने हाथ में लें, उन नटा का काम ही न समझे रहें। साथ ही हिंदी भाषी जनता को चाहिए कि वह हिंदी नाटक मंडलियाँ के नाटक देखकर उन्हें प्रोत्साहन दे।

आधुनिक नाटककारों में बाबू जयराम प्रसाद, पंडित बदरीनाथ मजु पंडित मोदिरामसमस्त पंथ आदि प्रसिद्ध हैं। बाबू प्रेमचंदजी ने 'संसार' और 'कर्मला' नाम के दो नाटक लिखे हैं जिनमें उन्हें सफलता नहीं हुई। पंडित मोदिरामसमस्त पंथ को रंगमंच का अच्छा अनुभव है और उनकी 'बरमासा' हिंदी माटकों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। पैरा थिटर आचार पर खिंची गई प्रेम की वह कबा पंथजी की कल्पित शक्ति से बंधक उठी है और माटक के उपयुक्त हो गई है। पंडित बदरीनाथ मजु के नाटक व्यंग्य और विनोद की दृष्टि से हिंदी में अपने दग के अच्छे हैं, पर जहाँ व्यंग्य और विनोद नहीं है वहाँ का कथोत्कथन शिथिल और उग्रहा हुआ जान पड़ता है और कहीं कहीं हास्य और विनोद भी निम्न भेषी का हो गया है। भीष्मास्तवजी के प्रहसनों की यही धूम है, पर हमारी दृष्टि में वे कुरूपि उत्सव करनेवाले हैं, उनका विनोद बहुत निम्न कोटि का है और उनका प्रभाव नभपुष्पों पर अच्छा नहीं पड़ता। बाबू जयराम प्रसाद एक आठ-दस नाटक हैं। उनमें से अधिकांश ऐतिहासिक हैं। प्रतापजी ने प्राचीन इतिहास का अच्छा अध्ययन किया है और प्राचीन भारतीय समाज के विस्मृतप्राय विषयों का विस्ताराम में उनकी धूमता प्रशंसनीय है। देश और काल के उपयुक्त पशु निवारण करना प्रतापजी की विशेषता है। मानविक कृतियाँ का पात्रों का स्वभाव खर निराला हुआ

उनका “कामना” नाटक हिंदी में अपने ढंग का अद्वितीय है। हमारी सम्मति में निरवधिर्वा इतनी जटिल और एक दूसरी से ऐसी अति विप्लव भाव से मिली हुई होती है कि उन्हें अलग करके रखाने में कठिनाता आ ही जाती है। उनका ‘एक रूँद’ नाम का एकही नाटक सिद्धांत-प्रतिपादन की दृष्टि से अच्छा है, पर नाटकीय दृष्टि से नुस्ति-पूर्ण है। सिद्धांतों को अप्रस्थान मिल गया है, कथोपकथन में नाटकीय प्रभाव क्षुब्ध हो गया है। फिर भी इतना तो निश्चय कहना जा सकता है कि नाटकों के क्षेत्र में प्रसारणी की रचनाएँ बड़े महत्त्व की हैं और अब तक के नाटककारों में वे ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

उपन्यास—‘प्रीतानुस’ के उपरंत हिंदी के उपन्यासों में ‘चंद्र कांठा संवत्ति’ का नाम आता है। बाबू देवकीनंदन खत्री की इस रचना का उस समय इतना अधिक स्वागत किया गया कि अब हमारे लिये यह आश्चर्य की बात हो गई है। साक्षों निरक्षरों और उर्दू-साक्षों ने ‘चंद्रकांठा संवत्ति’ पढ़ने के लिये हिंदी सीखी। चंद्रकांठा के अनुसरण में हिंदी में अनेक उपन्यास लिखे गए। इनके अनंतर गढ़ मगीरी के जासूसों का युग आया। उनके अनेक उपन्यास अनुबाधित हैं कुछ मौलिक भी हैं। पटनाओं की ओर आकर्षण रहता है, चरित्र के विकास का कहीं फटा नहीं रहता, भाषा भी प्रायः बेहारी रहती है। इसी समय के लगभग बैंगला के कुछ अच्छे उपन्यासों का हिंदी में अनुबाध हुआ जिससे साहित्यिक उपन्यासों की मौलिक रचनाएँ भी हलने लगीं। वैदित किशोरीलाल गोस्वामी ने इस ओर पहले पहल प्रयत्न किया। उनकी रचनाएँ साहित्यिक हैं, पर भाषा की दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं हुई हैं। गोस्वामीजी ने अब तक पचासों उपन्यास लिखे हैं और उनका थोड़ा बहुत प्रचार भी है। उनके उपन्यास अधिकतर पटना विरिष्ठ हैं, पात्रों के चरित्र विकास की ओर कम ध्यान दिया गया है। कहीं कहीं काव्यरस भी लटकता है। आधुनिक उपन्यास-समीक्षा के अनुसार गोस्वामीजी के उपन्यासों का बहुत कम साहित्यिक मूल्य है।

उनका निनास और परिहास कहीं कहीं असंश्लेषता की सीमा तक पहुँच जाता है।

हिंदी उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचंदजी की रचनाओं ने सुगतिर उपस्थित कर दिया। हिंदीवालों ने उनका पहले मौखिक उपन्यास 'सिरा-सदन' का उदात्तता के साथ स्वागत किया और 'प्रेमाभय' निकलते ही वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार कहलाने लगे। सामाजिक मार्ग का प्रतिद्वंद्वी इनकी सत्यता का मूल कारण है। 'रंगभूमि', 'काकाकर्म', 'प्रतिज्ञा', 'गहन छाँटि' उनका कितनी ही छोट-बड़ उपन्यास निकल चुके हैं। प्रेमचंदजी ने बेहानी समाज का बड़ा खप्पड़ा अनुभव प्राप्त किया था और उनके मुँह कुरों का वे समझते थे। सामाजिक कुरीतियों का दूर करने के उद्देश्य से उन्होंने धर्म्य शैली स्वीकृत नहीं की, मीठी कुरियाँ का प्रयोग किया है। मानसिक वृत्तियों के उत्थान पतन का सुंदर चित्र चित्रित करने में प्रेमचंदजी की प्रसिद्धि है। बचन की संपूर्ण शक्ति प्रेमचंदजी का मिली थी, इस कार्य में वे संसार के बड़े-बड़े उपन्यासकारों के समकक्ष हैं। प्रेमचंदजी के उपन्यासों में 'आत्महत्या' की ओर अधिक ध्यान दिया गया तथाकथित का उतना विचार नहीं रखा गया। दोनों का उपयुक्त सम्मिश्रण कहाँ मिले उनका उपन्यासों के महत्त्व का और भी बड़ा होता। कहीं कहीं, विशेषकर 'रंगभूमि' में अवरमकता से अधिक विस्तार किया गया है। वह उपन्यास दो मार्गों में न होकर एक ही मार्ग में समाप्त हो जाता तो अधिक संचित होता। पीछे विमर्शमरनाथ शर्मा कीटिक के मा' उपन्यास में अतिरिक्त विचार का बड़ा ही मनोहर रूप देकर बढ़ता है।

जबकि प्रेमचंदजी 'कंचाल' नामक उपन्यास का निमाण नाम के अनुवृत्त हुआ है। समस्त उपन्यास के पढ़ जाने पर हमें समाज के भंग बिगड़ का उत्पादन संचित नहीं हुआ। मध्यमवर्ग समाज में भी भी विनेश्वरजी की 'परत' अर्थात् दृष्टि से देखी जाती है।

आत्म्यायिका—आधुनिक हिंदी की आत्म्यायिकाएँ संस्कृत के हितोपदेश अथवा रात्रतरंगिणी के ढंग पर नहीं लिखी गईं, अँगरेजी की छोटी कहानियों की शैली पर लिखी गई हैं। पटनाओं की सहायता से पाशों की व्यक्तिगत विशेषताओं को चित्रित करना आत्मकथा की कहानियों का मुख्य लक्ष्य हो रहा है। समाज की कुुरीसियों के प्रदर्शन-कार्य भी कहानियाँ लिखी जाती हैं, ऐतिहासिक घटकों पर प्रकाश डालने की दृष्टि से भी कहानियाँ लिखी जाती हैं और सांस्कृतिक कहानियाँ भी लिखी जाती हैं। कहानियों में न तो पटनाओं का कम अधिक चित्रित होता है और न जीवन के बड़े बड़े चित्र दिखाए जाते हैं। हिंदी में आत्म्यायिकाओं का आरंभ करनेवाले गिरिजाकुमार गोय नामक एकजन थे। उनके उपरंत में ज्वालादत्त शर्मा, बाबू बनशंकर प्रसाद, श्री प्रेमचंदजी, कौशिकजी, सुरचंदजी, हरचंदजी आदि कहानी लेखक हुए। प्रसादजी की आत्म्यायिकाएँ कविता-रूप होती थीं। उनकी कुछ कहानियों में प्राचीन इतिहास की खोई हुई बातों की खोज की गई है, कुछ में मनस्त्व की सूक्ष्म समस्याएँ समझाई गई हैं और कुछ में व्यक्ति का व्यक्तित्व स्पष्ट किया गया है। प्रसादजी की माया कहानियाँ के निरनुकूल उपयुक्त नहीं हैं और भावों की भ्रष्ट में कहीं कहीं कृत्रिमता आ जाती है। प्रेमचंदजी की कहानियों में सामाजिक समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उनकी माया-शैली कहानियों के बहुत उपयुक्त हुई है और उनके विचार भी सब पढ़-लिखे लोगों के विचारों से मिलते-जुलते हैं। यही कारण है कि प्रेमचंदजी की कहानियाँ सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। प्रेमचंदजी और बनशंकर प्रसादजी की आत्म्यायिकाओं में बड़ा भारी अंतर यह है कि एक में पटनाओं की प्रधानता रहती है और दूसरी में कहे भावों की। कौशिकजी की कहानियों में परिचारिक जीवन के बड़े ही मार्मिक और सच्चे चित्र हैं। उनका क्षेत्र सीमाबद्ध है, पर अपनी सीमा के भीतर में अक्षिणीय है। ऐसा जान पड़ता है कि सुरचंदजी ने पारवाय कथा

साहित्य का अन्धसा जल्पन किया है। भारतीय आदर्शों की रक्षा करने की उनकी यही प्रशंसनीय है। उनकी कहानियाँ सरल और रोचक होती हैं। हृदयस्थलों की कहानियों में कवित्व है, पर उनकी माया अत्यधिक अलङ्कृत तथा उनका भाव कहीं कहीं निर्गत कल्पित हो गया है। अन्य कहानी-लेखकों में 'अंतस्तप्त' के लेखक भीषणुरसेन शास्त्री, श्री राय कृष्णदास झाँसी हैं। उमरी की ये कहानियाँ अच्छी हैं जिनमें उन्मत्त धरतीलता यही आने की है। उनकी माया अच्छी होती है। हिंदी की यही कहानियाँ या गणों का मविष्य उन्मत्त जान पड़ता है। बाढ़ ही समय में इस क्षेत्र में बड़ी उपलब्धि हुई है।

निबंध—हिंदी में अब तक निबंधों का पुष्प नहीं आया है। समाजात्मिक निबंधों के अतिरिक्त हिंदी के अन्य सभी निबंध सामाजिक कटि हैं। पंडित बालकृष्ण मंड और पंडित प्रतापनारायण मिश्र के निबंध हिंदी की वाक्पाठस्था हैं। उनमें विनीत झाँसी बाहे जो कुछ है, वे साहित्य की रक्षा में संपत्ति नहीं हो सकते। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबंधों में विचारों की मात्रा कहीं कहीं विगुंरत हो गई है। द्विवेदीजी की संपादन-काम में हवना स्वस्त रहना पड़ता था कि उनके स्वतंत्र निबंधों को देखकर हमें आश्चर्य ही होता है। भाषात्मक निबंध लिखनेवालों में स्वामीय सरदार पूरुषोत्तम का स्थान सबसे अधिक महत्व का है, पर थोड़ा ही दिन बाद सरदारजी हिंदी को छोड़कर अंग्रेजी की ओर झुक गए थे। भीष्म गुलाबराज और भीष्म कचोमल के आधुनिक निबंध भी साधारणतः अच्छे हुए हैं। निबंधों के क्षेत्र में बंदिन रामचंद्र शुक्ल का स्थान अलग स्थान है। मानसिक विरसेन के आधार पर उन्मत्त कल्पना, अधः झाँसी मनीषों पर अनक अन्ध निबंध लिखे हैं। निरन्तरात्मक निबंध लेखकों में बाबा, प्रमद आदि पर जो कुछ लिखा है, वह सब मध्यम धैर्य का है। कारण यह कि निबंधों की आरंभिक विचार ध्यान नहीं दिया गया है। हिंदी साहित्य के इस अंग की पुष्टि की आरंभ मुनेगाजी का ध्यान जाना

साहित्य । इन दिनों साहित्यिक विषयों पर भी निषेध किया जा रहा था और उनमें कुछ महत्वपूर्ण भी हैं ।

साहित्यिक पत्रिकाएँ—हिंदी की उच्च कोटि की साहित्यिक पत्रिकाओं में सबसे पहले मराठा से सरस्वती प्रकाशित हुई । प्रथम वर्ष में इसके संपादन का भार काशी नागरी-मन्थारिणी समा के पाँच सभासदों के हाथ में रहा । द्वितीय और तृतीय वर्ष में इसका संपादन बाबू स्वामिंदरदास करते रहे । चौथे वर्ष से इसके संपादन का भार संवादक प्रवर पंडित महावीरदास द्विवेदी के हाथ में गया और बीस वर्षों से अविच्छादित तक ये इस कार्य को करते रहे । उनके समय में इस पत्रिका ने बड़ी उन्नति की और हिंदी भाषा तथा साहित्य के प्रतिष्ठापन में सफल हुई । सरस्वती के अनंतर माधुरी, तब सुधा और विशाखामाख मासिक पत्रिकाएँ निकलने लगी । इन सब में हिंदी की प्रमुख सेवा की और अब तक ये उस कार्य को निरंतर कर रही हैं । बही हिंदी की इस समय प्रमुख मासिक पत्रिकाएँ हैं । वैसासिक पत्रिकाओं में नागरी मन्थारिणी पत्रिका प्रमुख है जिसमें प्राचीन शोध-संवेधी लेख मुख्यतया रहते हैं । इस विषय की वह हिंदी में एक ही पत्रिका है और काशी नागरीमन्थारिणी समा की मुक्त-पत्रिका होने पर भी वह उस संस्था के कार्यों की ध्वजा बने ही की ओर उठना ध्यान नहीं देती और न बार-विवाद में ही पड़ती है । सन् १९११ में हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा “हिंदुस्तानी” नाम की “विमाही” पत्रिका निकलने लगी है, जिसमें उच्च कोटि के लेख निकलते हैं । इस पत्रिका का मसिख उल्लेख देना पड़ता है ।

गद्य-शैली का विकास—जो तो गद्य का विकास बहुत प्राचीन काल में हुआ था, परंतु वास्तव्य उस समय से आरंभ हुआ कि उस समय मुरी तदामुक्तकाल, रघाउम्लाला, सरल मित्र और लालची शास्त्र ने अपनी रचनाएँ कीं । उस समय की शैली की अवस्था बरी बी जो बहुत आरंभिक काल में होनी चाहिए । जिन लोगों ने गद्य का

आचार संस्कृत से लिया, उनकी भाषा में भी संस्कृत की छाप लग गई। इस काल में कथा-कहानी की ही रचनाएँ हुईं। यह स्वामानिक भी था, क्योंकि यह धार्मिक काल था। न तो मायावीली में बल का संसार हुआ, न उसका कोई संघर्ष रूप नियर हुआ और न पाठकों में इतनी शक्ति उत्पन्न हुई थी कि गवेषणात्मक रचनाओं का अध्ययन कर सकें। इन लोगों में भी दो एक स्पष्ट दिखाई पड़ते थे। एक ने तो संभवतः प्रविष्टा कर ली थी कि उर्ध्वम—उर्ध्व ईश की वाक्य-रचना एवं शम्भु-याचना—का पूर्ण बहिष्कार किया जाय और दूसरे ने उर्ध्वम लेकर ऐली का समस्तारपूर्ण बनाने की चेष्टा की। अभी तक न तो शम्भु का रूप ही नियर हुआ था और न माया का परिमाण ही हो सका था। आकरस की धार तो धीरे-धीरे उठाना ही स्वामानिक या अनावरक कात होता था। मुहावरों के प्रयोग से कुछ समस्तार अक्षर्य उत्पन्न हो रहा था। जिन लोगों में मुहावरों और उर्ध्वम का एकदम बहिष्कार किया उनकी भाषा संकीर्ण भले ही रही हो परन्तु उसका आकर्षण और समस्तार अक्षर्य नष्ट हो गया था। इस समय के प्रायः सभी लेखकों में प्रतीतिता स्पष्ट कलकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि यह धार्मिक काल था तो वे सभी अवस्थायें रचना ऐली में उपरिष्ठ थीं या स्वामानिक रूप में उस समय ऐली बाहिर् थी।

इसके उपरिष्ठ समयमें ब्याप्त क्यों तक हिंदी का काम भारतवर्ष के वर्म प्रकारक ईसाइयों के हाथ में था। उस समय की रचनाओं का ऐलन से निरिष्ठ होता है कि इन ईसाइयों ने उर्ध्वम का धार निरोध किया और अभी रचनाओं में पूरा रूप से हिंदीमन का ही निषाद किया। न तो शम्भु-याचना ही में उर्ध्वम दिखाई पड़ता है और न वाक्य निम्नात् में। आकरसकता पड़ने पर इन लोगों में प्रामीय शम्भु वक का व्यवहार किया परन्तु उर्ध्व के शम्भु का नहीं। यह स्पष्ट निरिष्ठ होता है कि इन लोगों में सपेक्ष होकर, उर्ध्वम को दूर रखकर, माया का रूप हुन रहा।

इसपर राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के गमचेत्र में आते ही पुनः दिवा और उर्दू का बह्विध प्रारंभ हुआ। साधारण कम से विचार करने पर तो यही कहा जा सकता है कि उस समय तक न तो व्याकरण के नियमों का ही निर्वाह दिलाई पड़ा था और न भाषा का ही कोई कम स्थिर हो सका था। रचना का विकास अवश्य हो रहा था, पठन-पाठन के विस्तार से अनेक विषयों में गद्य की पहुँच प्रारंभ हो गई थी, और जिसने ही विषयों पर पुस्तकें मिली या पढ़ी थीं हिंदी-गद्य का कुछ रूप व्यापक अवश्य हो रहा था। उसमें अब भाव-बोलेन का क्रमशः विकास होने लगा था। इस समय प्रधान बात हिंदी उर्दू का मेलना था। राजा शिवप्रसाद को सभी रचनाओं में उर्दू-पुस्तकें को पुनः समझी थी। उनको विश्वास था—समय है ऐसा निश्चित करने के लिये वे बाध्य किए गए हैं—कि यदि उर्दू-पुनः का बहिष्कार किया जायगा तो भाषा की व्यावहारिकता नष्ट हो जायगी और उसमें भाव-बोलेन का समतुल्य और बल न आ सकेगा। वह विचार राजा लक्ष्मणसिंह को ठीक न लगा। अतः उन्होंने इसके विरोध में अपनी रचनाओं में भाषा का रूप पूर्ण शुद्ध ही रखा। ऐसा करके उन्होंने यह स्पष्ट दिखा दिया कि उर्दू-पुनः से दूर रहकर भी भाषा बड़ी सरसता से प्रकाशित किए जा सकते हैं, ऐसी अवस्था में भी समतुल्य उपस्थित किया जा सकता है, बिना उर्दू-पुनः का सहाय लिये ही सुंदर से सुंदर रचनाएँ की जा सकती हैं।

इस बह्विध का निरीक्षण बाबू हरिश्चंद्र मन्त्री मंथि कर रहे थे। सोच-विचार करने के उपरान्त उन्होंने मध्यम मार्ग के अवलंबन का निश्चय किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में भाषा का बड़ा व्यावहारिक रूप रखा। न उन्होंने उर्दू-पुनः का पूर्ण बहिष्कार ही किया और न वे उर्दू-य-सुमेलन के पक्षपाती ही बने। जहाँ उन्होंने उर्दू के शब्दों का व्यवहार किया वहाँ उनका उद्योग कम ही रखा। इस काल में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। हिंदी का व्यवहार-क्षेत्र अत्यंत

अधिक व्याप्त होने लगा था। भारतीयों के अनेक सहयोगी तैयार हो गए थे। वे सभी दक्ष पत्र-संपादक और लेखक थे। इन लोगों के हाथों से भाषा का रूप बहुत कुछ परिमार्जित हो गया। पंडित बालकृष्ण मठ और पंडित प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं में भाव-संयोजना की सुंदर और समतारपूर्ण प्रणाली का अनुसरण हुआ। इनकी रीतिमें से चलतेपन और व्यावहारिकता का बहुत ही आकर्षक सामर्थ्य उपस्थित हुआ। पंडित बरदेनारायण चौबरी और पंडित गोविंदनारायण मिश्र की लेखनी से इस प्रकार की रचनाएँ निकलीं जो इस बात की ओरसा करती थीं कि जब भाषा में किसी प्रकार केवल भाव-प्रकाशन की ही शक्ति नहीं है बल्कि उसमें आत्मकारिक रूप से उत्कृष्ट रचना भी की जा सकती है। इस प्रकार के लेखकों में व्यावहारिकता अवश्य मग हुई है, परन्तु भाषा का एक सच्चिदात्मी स्वरूप दिखाई पड़ा। इतना होते हुए भी धर्मक पाठक कह सकेगा कि इस काल में भी व्याकरण की अवहेलना की गई। भाषा का मार्ग निर्दिष्ट तो हो गया, परन्तु उसमें सीजन अभी तक न आ सका था। इस समय भी ऐसे लेखक उपस्थित थे जो विरामादिक बिंदुओं का प्रयोग ही नहीं करते थे और इस कारण उनकी रचनाओं में ध्वनि अस्पष्टता आ जाती थी। संक्षेप में यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भाव-संयोजना की कई रीतियाँ इस समय अवश्य गद्य-लेख में उपस्थित हुईं और उनमें एक सच्चिदात्मी रूप अवश्य दिखाई पड़ा, परन्तु भाषा का साम्य-परिमाणन न हो सका और व्याकरण-विहित शुद्ध रचनाएँ न की जा सकीं।

जो कमी इस समय रह गई थी उसकी पूर्ति आधुनिक काल में हुई। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रभृति लेखकों की सक्रियता एवं सेवा से व्याकरण-संबंधी प्रतियों का सुधार हुआ। शब्दों का वास्तविक मूल-प्रयोग और व्यवहार इस काल की विशेषता है। इस समय अनेक विषयों पर सुंदर और शुद्ध रचनाएँ की गईं। यों तो भारतीय इतिहास का ही काम में माटक, उपप्लव, निर्बंध इत्यादि विवरणों का

इसपर राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के मगधेश में आठे ही पुनर्हिंदी और उर्दू का बंद आरंभ हुआ। साधारण रूप से विचार करने पर तो यही कहा जा सकता है कि उस समय तक न तो व्याकरण के नियमों का ही निर्धार दिया जा पड़ा था और न माया का ही कोई रूप स्थिर हो सका था। रचना का विकास अवश्य हो रहा था, बटन-बाटन के विस्तार से अनेक विषयों में गद्य की पहुँच आरंभ हो गई थी, और फ़िरने ही विषयों पर पुस्तकें लिखी जा रही थीं हिंदी-गद्य का कुछ रूप व्यापक अवश्य हो रहा था। उसमें अब मात्र-चोखन का क्रमशः विकास होने लगा था। इस समय प्रधान बात हिंदी उर्दू का मिलाप था। राजा शिवप्रसाद को सभी रचनाओं में उर्दू-पन छुड़ाने की पुनर्समझ थी। उनको विश्वास था—संभव है ऐसा निश्वास करने के लिये वे बाध्य किए गए हों—कि यदि उर्दू-पन का बहिष्कार किया जायगा तो माया की व्यावहारिकता नष्ट हो जायगी और उसमें मात्र-चोखन का बहिष्कार और बल न आ सकेगा। यह विचार राजा लक्ष्मणसिंह को ठीक न लगा। अतः उन्होंने इसके विरोध में अपनी रचनाओं में माया का रूप पूर्ण शुद्ध ही रखा। ऐसा करके उन्होंने यह स्पष्ट दिखा दिया कि उर्दू-पन से दूर रहकर भी मात्र बड़ी सरलता से प्रकाशित किए जा सकते हैं, ऐसी अवस्था में भी बलवत्कार उपस्थित किया जा सकता है, बिना उर्दू-पन का सहारा लिए ही सुंदर से सुंदर रचनाएँ की जा सकती हैं।

इस दृष्टि का निरीक्षण बाबू हरिश्चंद्र मंथी मंथि कर रहे थे। सत्य-विचार करने के उपरान्त उन्होंने मध्यम मार्ग के अवलंबन का निश्चय किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में माया का बड़ा व्यावहारिक रूप रखा। न उन्होंने उर्दू-पन का पूर्ण बहिष्कार ही किया और न वे उर्दू-य-गुच्छता के पक्षपाती ही बने। जहाँ उन्होंने उर्दू के शब्दों का व्यवहार किया वहाँ उनका उद्गम रूप ही रखा। इस काल में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। हिंदी का व्यवहार-क्षेत्र अब

अधिक मात्रा में होने लगा था। मार्लेबुजी के अनेक सहयोगी तैयार हो पड़े। वे सभी दस पत्र-संग्रह और लेखक थे। इन लोगों के हाथों से नाया का रूप बहुत कुछ परिमार्जित हो गया। पठित बालहृष्य मह और पठित प्रज्ञानात्मक मित्र की रचनाओं में भाव-व्यंजना की सुंदर और अनकारण प्रशंसा का अनुसरण हुआ। इनकी रीतियों में चतुर्वेद और व्यावहारिकता का बड़ा ही आकर्षक सामयिक उद्देश्य हुआ। पठित बालहृष्य चौकरी और पठित गोविन्दानात्मक मित्र की लेखनी में इस प्रकार की रचनाएँ निकलीं जो इस बात की धारणा करती थी कि अब भाषा में किसी प्रकार केवल भाव प्रकाशन की ही शक्ति नहीं है बल्कि उसने आलोचकिक रूप से उत्कृष्ट रचना भी कर सकती है। इस प्रकार के लेखकों में व्यावहारिकता अवश्य नष्ट हुई है, परन्तु भाषा का एक शक्तिशाली स्वरूप दिखाई पड़ा। इतना हमें हुए भी ठीक पाठक यह देख सकता है कि इस काल में भी व्याकरण की अवहेलना की गई। भाषा का माग निरिच्छ तो हो गया, परन्तु उसमें लैंगिक कमी तक न आ सका था। इस समय भी ऐसे लेखक उपस्थित थे जो विद्यार्थिक विद्वानों का प्रयोग ही नहीं करते थे और इस कारण उनकी रचनाओं में व्यर्थ ही अल्पव्यय आ जाती थी। संक्षेप में यदि हम कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि भाव-व्यंजना की कई रीतियाँ इस समय अवश्य गद्य-श्रेष्ठ में उपस्थित हुईं और उनमें एक शक्तिशाली रूप अवश्य दिखाई पड़ा, परन्तु भाषा का साम्यपूर्ण परिमाणन न हो सका और व्याकरण-निहित शुद्ध रचनाएँ न की जा सकीं।

जो कमी इस समय रह गई थी उसकी पूर्ति प्रायुक्त काल में हुई। पठित महर्षिप्रसाद द्विवेदी प्रभृति लेखकों की सकलता एवं श्रेष्ठ से व्याकरण-संबंधी बुद्धियों का सुचारु हुआ। शब्दों का वास्तविक शुद्ध प्रयोग और व्यवहार इस काल की विशेषता है। इस समय अनेक विषयों पर सुंदर और शुद्ध रचनाएँ की गईं। यों तो मार्लेबुजी और ही काल में नाटक, उपन्यास, निबंध इत्यादि लिखने का

बुझा था, परंतु इन विषयों के लेखन में न तो अनेक प्रकार की रीतियों का सम ही निर्दिष्ट हुआ था और न माली माँति उनमें कस मानसिक माबनाओं के प्रकाशन की प्रणाली का ही निर्वाह हुआ था। इस काल में इन विषयों पर विशेष ध्यान दिया गया। कल-स्वरूप रीती में भी माब-योद्धन की मनबैज्ञानिक शक्ति का संचार हो गया है। बाबू प्रेमचंद और बाबू जयशंकर प्रसाद की रीती में करिब-निश्चय की मन नरीति और गम्भीर भावना इस बात की छापी है। कमरा जिस प्रकार विचार करने की शक्ति का विकास होता गया उसी प्रकार माया में भी माब-संबन्धनात्मक शक्ति की उन्नति होती गई। आज जिसने प्रकार की रीतिर्वा उपस्थित हैं, उनसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि गुरु से गुरु माबनाओं के प्रकाशन में माया समर्प है।

माब और माया की सादात्म्य प्राप्ति रीती के उत्कर्ष की परम सीमा है। केवल इस दिशा में भी फरसाह कर रहे हैं। राम कृष्णदास की 'साधना' में इसी प्रकार के सादात्म्य का उन्मेय स्थान स्थान पर हुआ है। इनके 'दुर्वाणु' की अप्रतिनी कहानिर्वा उक्त रीती के मोक्षर रूप पस्तुठ करने में बहुत कुछ सफल हुई हैं।

पटनात्मक कथन की एक विशिष्ट प्रणाली का विविक्ततापूर्ण और स्वावहारिक रूप बाबू प्रेमचंद की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। बूखी और माबात्मक तथा उन्मादपूर्ण माब-संबन्धना का एक रूप-विशेष 'प्रसाद' की रीती में दिखाई पड़ता है। बाद-निवार और शार्किक ध्वन का आकस्मिक रूप भी इस काल में विशेषता प्रयुक्त होने लगा है। इस प्रकार की रीतिर्वा आज देखने में आ रही हैं जिनमें मायस के मूखों की प्रबानता खती है। एक ही विषय को बार बार बहराकर बहना और माब-भंगी की एक विविक्ततापूर्ण और समत्कारमुक्त रीती का अनुसरण इस युग में विशेष वृद्धि पा रहा है। जो ता होने सिने प्रासोबनात्मक लेख मारतेहु इतिचंद्र ही के काल में लिखे जाने लगे थे, परंतु आधुनिक काल में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की विशेष चेष्टा

से इस विषय का अधिक प्रचार नही। और अतः इस लोको की प्रकृति भी होने लगी। अतः पश्चिम समनंश शुक्ल क्रीते गौरवपूर्ण आलोचना-लेखक का आश्रय हुआ। आलोचना का जो औद्योगिक गंभीर विवेचन शुक्लजी ने आरंभ किया है उससे विश्वास होता है कि शीघ्र ही आलोचना की यह अस्मितापूर्ण, मनोवैज्ञानिक तथा तर्कना-मुक्त ऐसी एक होकर एक विशेष रूप लिये करेगी।

अभी तक यंभीर शुक्लनामक आलोचना पर कोई ऐसा लुहर ग्रंथ नहीं प्रकाशित हुआ किसे आचार माना जा सके। इसके अतिरिक्त आज अनेक विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे जा रहे हैं। इन विविध विषयों की होशियों के विषय में अभी अधिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे परित्याग्यता को नहीं प्राप्त हुए हैं।



(१०) उपसंहार

साक्ष्य यह है कि क्या कृता पद और स्वाभाव पद दोनों में अभी पूरा परिपक्वता नहीं आई है, पर हिंदी दोनों की ओर हृदयपूर्वक झुकाव हो रही है। सब बात तो यह है कि हिंदी भाषा और साहित्य का वर्तमान रूप बड़ा प्रगल्भपूर्ण है। इसमें भाषी उन्नति के बीज वर्तमान हैं जो समय पाकर अवश्य फलप्रसूत और पुष्पिष्ठ होंगे। परिवर्तनकाल में भिन्न गुणों का सब बातों में होना स्वाभाविक है वे सब हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में स्पष्ट रोल पड़ते हैं और काल का धर्म भी पूरवता प्रतिक्रिया प्रदान करता है। इस अवस्था में जीवन है, प्रगति है, उत्साह है, उर्मय है और सबसे बढ़कर बात यह है कि मध्योन्नति के मार्ग पर हृदयपूर्वक झुकाव होने की शक्ति और कामना है। किन्तु वे गुण हैं वे अवश्य उन्नति करते हैं। हिंदी में वे गुण वर्तमान हैं और उनकी उन्नति अवश्यमात्री है। हिंदी और उसके साहित्य का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल और सुंदर रोल पड़ता है। आर्य तथा सामान्य का पात्र वे महापुरुष हैं जो अपनी इच्छाओं से इसके धर्म के कंदकों और फल-फूलों को दूर कर उसे स्वयं, प्रगल्भ और प्रगल्भ बना रहे हैं।

